हृदय एवं सहृदय : अर्थ, स्रोत, अन्तःसम्बन्ध

एम. फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध

शोध-निर्देशक

डॉ. रजनीश कुमार मिश्र

शोध-छात्र

योगेश शर्मा

Jawaharlal Nehru University Library

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

भारत

2006

SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

NEW DELHI-110067

JULY 18th 2006

CERTIFICATE

This dissertation entitled "हृदय एवं सहृदय : अर्थ, स्त्रोत, अन्तःसम्बन्ध" by **Yogesh Sharma,** Special Centre for Sanskrit Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi-110067, for the award of the degree of Master of Philosophy, is an original work and has not been submitted so far, in part or full, for any other degree or diploma of any University. This may be placed before the examiners for evaluation and for award of the degree of Master of Philosophy.

Rajnish Kr. Mishra

Dr. Rajnish Kumar Mishra

{Supervisor}

Skumar 19/07/06

Prof. Shashiprabha Kumar

(Chairperson)

सादर समर्पित

पितामही श्रीमती धर्मोदेवी शर्मा

एवं

पितामह मूलचन्द्र शर्मा (स्वतंत्रता सेनानी)

"येषां काव्यानुशीलाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता तएव स्वहृदय-संवादभाजः सहृदयाः।"

- ध्वन्यालोकलोचन

प्राक्कथन

भारतीय चिन्तन धारा अनुभूतिपरक रही है, सत्य की खोज हेतु अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपनी व्यवस्थायें दी हैं। सभी का क्रम स्थूल से सूक्ष्मतर है। सूक्ष्मतम अवस्था को सत्य कहा जाता है। जो अनभिव्यङ्ग्य है, वह केवल अनुभवगम्य है, जिसका अनुभव एक प्रमाता ही कर सकता है, क्योंकि वह उपयुक्त अधिकारित्व से अधिकारित होता है। यही कारण है कि समस्त भारतीय शास्त्रीय परम्परा में अधिकारी की अवधारणा को प्रमुखता से स्थान दिया गया है। साहित्यशास्त्रीय चिन्तन में भी यह अवधारणा परिलक्षित होती है। इसमें अधिकारी को सहृदय से अभिहित किया गया है। इसका आधार स्रोत प्रत्यभिज्ञादर्शन रहा है। जिसके आश्रय से अभिनवगुप्तपादाचार्य ने सहृदय की अवधारणा को परिपुष्ट किया।

प्रस्तुत लघु-शोध प्रबन्ध को मैं वात्सल्यमयी माता श्रीमती लीलावती शर्मा एवं पिता श्री सुरेशचन्द्र शर्मा के सतत् आशीर्वाद से पूर्ण कर सका।

प्रस्तुत शोधकार्य के लिए सर्वप्रथम आभारी हूँ निर्देशक डॉ. रजनीश कुमार मिश्र का जिनके वैदग्धपूर्ण निर्देशन के बिना इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। डॉ. मिश्र ने विषय चयन से लेकर शोधकार्य की साफल्यपूर्ण परिणति में अविस्मरणीय योगदान दिया। उनके कुशल एवं विश्लेषणयुक्त मार्गदर्शन से प्रस्तुत कार्य सम्पन्न हो सका।

डॉ. बीना अग्रवाल, श्री बसंत जेटली (संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय) ने समय-समय पर मेरा उत्साहवर्द्धन किया है। प्रस्तुत शोधकार्य में उनका भी सहयोग प्राप्त हुआ, मैं डॉ. बीना अग्रवाल एवं श्री बसंत जेटली का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। उनके प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

प्रो. कपिल कपूर के (जे.एन.यू.) सूक्ष्म एवं विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण (जो हमें उनसे शोधकक्षा में प्राप्त हुआ) ने शोधकार्य में सहायता प्रदान की।

विषय चयन एवं शोधकार्य उपयुक्त परामर्श के लिए मैं अध्यक्ष, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जे. एन. यू. के प्रो. शशिप्रभा कुमार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

बड़ी बहिन हेमप्रभा शर्मा का हृदय से आभारी हूँ, जिनके कारण मैं इस मुकाम तक पहुँचा हूँ, उनके आशीर्वाद से ही मैं प्रस्तुत शोध कार्य पूर्ण कर सका हूँ।

जीजी सत्यप्रभा एवं यामिनी का भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके शोध सम्बन्धी परामर्शों ने इस कार्य में सहायता की। इसके अतिरिक्त मेरी बहन अजिता शर्मा, ऋचा शर्मा का भी मुझे सहयोग प्राप्त हुआ, उनके प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

बड़े भाई प्रतीक शर्मा जिन्होंने प्रारम्भ से ही मेरा मार्गदर्शन किया है, जो मुझे शोधकार्य में प्राप्त हुआ, उनके प्रति भी कृतज्ञ हूँ। अनुज निशांत शर्मा की निश्छल सद्भावनाओं एवं स्नेह से मुझे सम्बल मिलता रहता है। जो प्रस्तुत कार्य में भी अत्यन्त सहयोगी रहा। मैं अपने अनुज के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

अन्य व्यक्तियों में मेरे परम मित्र माईराम, महेन्द्र, हरेती एवं पूरण, अरुणकुमार शर्मा का भी मैं आभारी हूँ, जिन्होंने प्रस्तुत कार्य में समय-समय पर मेरा सहयोग किया।

विषयानुक्रमणिका

अध्याय	*विषय-वस्तु*	*पृष्ठ संख्या*
	विषय प्रवेश	1-9
प्रथम अध्याय :	**शैवदर्शन : तन्त्र, प्रविधि, प्रत्यभिज्ञान**	10-42
द्वितीय अध्याय :	**साहित्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र : स्रोत एवं अन्तःसम्बन्ध**	43-68
तृतीय अध्याय :	**साहित्य में अधिकारी की अवधारणा**	69-94
चतुर्थ अध्याय :	**हृदय एवं सहृदय**	95-121
	उपसंहार	122-125
	सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची	126-132

विषय-प्रवेश

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध काव्यानुभूति एवं उसके अनुभावन की व्याख्या दर्शनशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र की पृष्ठभूमि में करता है। इस व्याख्या के तंत्र, उपकरण एवं प्रविधि इन्हीं दो शास्त्रों (दर्शन एवं सौन्दर्य) से भारतीय ज्ञान परम्परा में 'रस-सूत्र' की व्याख्याकाल से लिये जाते रहे हैं जिसके सबसे बड़े प्रामाणिक आचार्य स्वयं अभिनवगुप्तपादाचार्य हैं। काव्यानुभूति के प्रमाता सहृदय का सम्बन्ध हृदय तत्त्व से है, जिसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन में आनन्द, चिति, प्रतिभा, शिवा, परा, स्वातन्त्र्य एवं विमर्श आदि अभिधानों से भी अभिहित किया गया है। काव्य का अधिकारी सहृदय है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में अधिकारी की अवधारणा परिवर्तनशील रही है। इस परम्परा में इसे कात्यायन ने नागरक[1], भरत मुनि ने प्रेक्षक[2], दण्डी ने विदग्ध[3], लोल्लट एवं शंकुक ने सामाजिक[4], भट्टनायक ने सामाजिक एवं सिद्धिमान्नर[5], आनन्दवर्द्धन ने सहृदय[6], अभिनवगुप्त ने अधिकारी[7] एवं सहृदय, राजशेखर ने भावक[8] मम्मट ने प्रतिभाजुष[9] तथा विश्वनाथ ने प्रमाता[10] आदि भिन्न-भिन्न अभिधानों से अभिहित किया है। ये सभी नाम काव्य-ग्राहक के रूप में प्रयुक्त हुये हैं किन्तु इनमें से सहृदय पद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रयोग से काव्यशास्त्र में काव्य के अधिकारी की एक विशिष्ट अवधारणा विकसित हुई है। सहृदय शब्द का प्रयोग यद्यपि आनन्दवर्द्धन ने किया किन्तु अभिनवगुप्त ने इसकी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या करके इसको इतना व्यापक एवं

---

1. **कागसूत्र**, 1.4.1
2. **नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय
3. **काव्यादर्श**, 1.89
4. **अभिनवभारती**, भाग 1, पृ. 232
5. **अभिनवभारती**, पृ. 467
6. **ध्वन्यालोक**, 1.1
7. **अभिनवभारती**, षष्ठ अध्याय
8. **काव्यमीमांसा**, चतुर्थ अध्याय
9. **काव्यप्रकाश**, 3.21-22
10. **साहित्यदर्पण**, 3.10

बहुआयामी तात्त्विक विस्तार दिया कि सहृदय पद संस्कृत काव्यशास्त्रीय चिन्तन की परम्परा में एक सम्यक् अवधारणा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

अभिनवगुप्तपादाचार्य (10वीं शताब्दी) कश्मीर शैवदर्शन की अद्वयवादी परम्परा के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। अभिनवगुप्त **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका** रचयिता उत्पलदेव के प्रशिष्य व लक्ष्मणगुप्त के शिष्य थे। इन्होंने **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका** पर **विमर्शिनी** व **विवृत्तिविमर्शिनी** टीकायें लिखीं। इनके अतिरिक्त **ध्वन्यालोक** पर **लोचन** व सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र पर **अभिनवभारती** टीका, **तन्त्रालोक, तन्त्रसार, परात्रिंशिका, परमार्थसार, भैरवस्तोत्र** आदि लगभग 42 ग्रन्थों का प्रणयन किया। अभिनवगुप्त मूलतः शैव दार्शनिक हैं इसलिये **अभिनवभारती** व **लोचन** जैसे साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों पर भी उनकी शैवी दृष्टि का प्रभाव परिलक्षित होता है। अभिनवगुप्त ने इस शैवी दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पृष्ठभूमि में सहृदय की एक परिपक्व अवधारणा रखी। सहृदय ही नहीं अपितु सम्पूर्ण काव्य चिन्तन को दर्शन के समकक्ष रखने वाले अभिनवगुप्त ने साहित्य के विभिन्न विवेच्य पक्षों और उस सन्दर्भ में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों को अपने तन्त्रवादी त्रिक दर्शन के आलोक में अर्थच्छाया प्रदान की। सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक परम्परा में वे सम्भवतः एकमात्र ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या एवं स्थापना के क्रम में कालिदास एवं भवभूति जैसे कवियों की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं।[1]

काव्य चिन्तन के सन्दर्भ में सहृदय का प्रयोग दो स्थितियों में है - 1. काव्यसर्जक अर्थात् कवि के रूप में, 2. काव्य ग्राहक के रूप में, किन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध का सम्बन्ध ग्राहकपक्षीय सहृदय से ही है। इस पद का सर्वप्रथम प्रयोग **अथर्ववेद** में 'सहृदयं सामनस्यमहिषं कृणोमि वः'[2] के रूप में मिलता है। उपर्युक्त पंक्ति में सहृदय

---

1. द्रष्टव्य : **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी**

2. **अथर्ववेद**, 3.3.1

का अर्थ 'समान हृदय' है। काव्यास्वाद के सन्दर्भ में नायक, कवि तथा श्रोता अनुभव साम्य[1] की दृष्टि से समान हृदय वाले सहृदय कहे जाते हैं। **नाट्यशास्त्र** में सहृदय के 'सुमनस् प्रेक्षक' का प्रयोग है। भरत, भामह, दण्डी, वामन तथा उद्भट आदि ने सहृदय शब्द के समानार्थक अन्य शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु सहृदय का सर्वाधिक[2] प्रयोग आनन्दवर्द्धन ने **ध्वन्यालोक** में किया है जिसकी विस्तृत व्याख्या अभिनवगुप्तपादाचार्य ने **लोचन** में की है। अभिनवगुप्त ने सहृदय की व्याख्या का आधार शैवदर्शन को बनाया गया है। जहाँ हृदय तत्त्व के आलोक में सहृदय की अवधारणा को व्याख्यात किया है। अभिनवगुप्त की सहृदयगत व्याख्या दृष्टि से परिलक्षित होता है कि सहृदय का हृदय तत्त्व से साक्षात् सम्बन्ध है।

हृदय तत्त्व शैव दर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जो चिति, शक्ति, विमर्श, प्रतिभा, शिवा, परा, स्वातन्त्र्य शक्ति आदि का प्रतिपादक है। इसमें आनन्द का प्राधान्य है। यह उपचारतः परमशिव का हृदय है। इसी हृदय तत्त्व के सन्निधान में सहृदय की अवधारणा का विकास हुआ है। अतः साहित्य में अधिकारी रूप सहृदय की अवधारणा शैवदर्शन से प्रभावित है।

शैवदर्शन में सृष्टि की प्रक्रिया दो स्तरों पर होती है -

1. जीवात्मा के स्तर पर अर्थात् स्थूल से सूक्ष्म।

2. विश्वात्मा के स्तर पर अर्थात् सूक्ष्म से स्थूल।

काव्य की प्रक्रिया भी इसी के समानान्तर है। 1. कवि के स्तर पर (सूक्ष्म से स्थूल) 2. सहृदय के स्तर पर (स्थूल से सूक्ष्म)। कवि एवं सहृदय मिलकर ही काव्याङ्ग की प्रक्रिया को पूर्ण बनाते हैं।

जिस प्रकार आत्म चैतन्य में विश्रान्त शिवा के उन्मीलित होते ही सारा विश्व

---

1. नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः। उद्धृत **साधारणीकरण और सौन्दर्यानुभूति के प्रमुख सिद्धान्त**

2. **ध्वन्यालोक,** प्रथम उद्योत, 1, 2 कारिका, 4 19 की वृत्ति

अन्य निरपेक्षता के कारण क्षणभर में समुन्मीलित हो जाता है[1] उसी प्रकार इच्छानुसार काव्योचित विचित्र एवं अपूर्व अर्थ की स्फुरणा होने लगती है और काव्यजगत् क्षणभर में निर्मित हो जाता है।[2] अर्थात् जो कार्य शिव की शिवा करती है वही कार्य कवि की प्रतिभा करती है। दूसरी तरफ सहृदय जीवात्मा पुरुष की तरह (स्वप्न कल्पनादि) के समान अपनी प्रतिभान शक्ति से कवि सृष्टि से आभासित अनुभवगम्य सृष्टि करता है।

शैवदर्शन में अन्त:स्थित का बहि:प्रकाश है। जैसे बीज में वृक्ष रहता है वैसे ही शक्ति में विश्व समाया हुआ है। सर्जन की दृष्टि से यह स्वातन्त्र्यवाद है और विश्व की दृष्टि से आभासवाद। इस दर्शन में चरम सत्ता को परमशिव कहते हैं जिसकी पाँच शक्तियाँ[3] मुख्य हैं, चित् (आत्मप्रकाश) आनन्द (स्वातन्त्र्य शक्ति) इच्छा (सर्जन शक्ति) ज्ञान तथा क्रिया (कोई भी आकर ग्रहण करने की शक्ति) चित् और आनन्द का तो सामरस्य है। ये महेश्वर के स्वरूप हैं। इच्छा सदाशिव की, ज्ञान ईश्वर का और क्रिया शुद्धविद्या का प्रारूप है। शैवदर्शन में चरम सत्ता के दो पक्ष हैं। शिव की शक्ति निषेध व्यापार रूपा है जो इदम् का निषेध कर देती है। चित् में अहम् इदम् अभिन्न हैं। सदाशिव में अहम् स्फुट एवं इदम् का ध्यामल रहता है। ईश्वर में इदम् किंचित् स्फुट होता है। शुद्ध विद्या में दोनों समकक्ष स्फुट रहते हैं। यहाँ तक शुद्धाध्वा अभिव्यक्ति है। वह भेदाभेद भूमि है। इसके बाद भेद भूमि है। इसमें स्वेच्छा से शिव आणवमल में स्वरूप गोपन कर जीवभाव प्राप्त करता है। तदनन्तर माया[4] से भेद भूमि पर अनेक हो

---

1. **ध्वन्यालोकलोचन**, पृ. 172
2. कवेरपि स्वहृदयायतनसततोदित प्रतिभाभिधानपरवाग्देवतानुग्रहोत्थितविचित्रापूर्वार्थनिर्माणशक्तिशालिन: प्रजापतेरिव काम जनितजगत:। **अभिनवभारती**, प्रथम अध्याय, पृ. 29
3. चिदानन्देषणा ज्ञानक्रियापंचमहातनु:।
   विवर्तते महेशानस्तत्तद्वर्गेषु पंचधा॥ **तन्त्रालोक** (विवेक टीका) 6.49
4. **तन्त्रालोक**, 6.116

जाता है। कला, काल, विद्या, राग और नियति जैसे पंचकंचुकों के कारण उसकी शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं। वह परिसीमित हो जाता है। शुद्धाध्वा का अहम् शुद्धाध्वा में पुरुष तथा इदम् प्रकृति बन जाता है। शैव दर्शन में प्रत्येक जीव में प्रकृति भिन्नत्व को स्वीकार किया गया है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया ही इस अध्वा में सत्त्व, रज तथा तम बन जाते हैं। इस प्रकार वे सांख्य दर्शन के पुरुष एवं प्रकृति के अतिरिक्त 23 और तत्त्व क्रमशः आभासित होते हैं। महत्, अहंकार, दश इन्द्रियाँ पञ्च तन्मात्र और पञ्च महाभूत इस प्रकार कुल 36 तत्त्व होते हैं।

इस दर्शन में अज्ञान ही बन्ध है और मोक्ष का अर्थ है स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा[1] या पहचान अर्थात् आत्म परामर्श जो काव्यशास्त्रीय दृष्टि से सहृदय का भी अन्तिम लक्ष्य है। आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्य प्रयोजन में मुख्यतः प्रीति या पर निर्वृत्ति[2] की बात कही है जो तत्त्वतः संविद् विश्रान्ति है या पूर्णता परामर्श है। साधारणीकृत भाव की भूमि परा संवित् की विश्रान्ति है। इस अवस्था तक पहुँचने के लिये जहाँ शैवदर्शन में चार उपाय बताये गये हैं, वहीं काव्यशास्त्र में विभावादि की अवधारणा है।[3] इस प्रकार सहृदय की अवधारणा इस शैवदर्शन की आधारभूमि में प्रस्फुटित हुई। अभिनवगुप्त ने सहृदय पद की जो व्याख्या **अभिनवभारती** व **ध्वन्यालोकलोचन** में की है, वह प्रत्यभिज्ञा की पीठिका/आधारभूमि के कारण ही सम्भव हुआ और इसी के कारण सहृदय साहित्य के अधिकारी के रूप में प्रतिष्ठापित हुआ।

---

1. ते तदीयैश्वर्यविप्रड़िभरीश्वरीभूतः स भगवान् अनवच्छिन्न प्रकाशानन्दरूपस्वातन्त्र्यपरमार्थो महेश्वरः तस्य दास्यम इत्यनेन प्रत्यभिज्ञोपपादनस्य महाफलत्वम् आसूत्रयति। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** (भास्करी टीका), भाग 1, पृ. 29
2. तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। **ध्वन्यालोकलोचन**, पृ. 29
3. जिस प्रकार आणवादि उपायों से जीवात्मा पुरुष परम शिवत्व को प्राप्त करता है, उसीप्रकार विभावादि के द्वारा सहृदय रसानन्द या चमत्कार को प्राप्त करता है।

सहृदय साहित्यशास्त्रीय चिन्तन की महत्त्वपूर्ण अवधारणा है किन्तु अभी तक इस पर पृथक् रूप से सैद्धान्तिक एवं विश्लेषणात्मक कार्य उपलब्ध नहीं है। हालाँकि डॉ. विद्यानिवास मिश्र द्वारा रचित **सहृदय** नामक एक पुस्तक साहित्य अकादमी से प्रकाशित है किन्तु प्रथमत: तो वह शोधपरक ग्रन्थ नहीं है और न ही इसमें सहृदय की विकासात्मक अवधारणा व उसके स्रोत पर गवेषणात्मक दृष्टिपात् किया गया है।

डॉ. विद्यानिवास मिश्र कृत पुस्तक को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है - प्रथम भाग जिसमें आठवीं साहित्य अकादमी संवत्सर व्याख्यानमाला में दिये गये दो व्याख्यानों का संकलन है। द्वितीय भाग में **अभिनवभारती** के रसनिष्पत्ति प्रकरण का **बालक्रीड़ा** नामक व्याख्या के रूप में हिन्दी अनुवाद मात्र है। वैसे तो सहृदय की दोनों भागों में पर्याप्त व्याख्या परिलक्षित नहीं होती है फिर भी द्वितीय भाग के अनुपात में प्रथम भाग ही प्रासंगिक प्रतीत होता है। जिसमें सहृदय पद का मूल वेदों में ढूढ़ने का प्रयास किया गया है। प्रथम भाग के दो व्याख्यानों में से प्रथम व्याख्यान में लगभग चार पृष्ठों में 'सहित' पद[1] को समझाया गया है। तत्पश्चात् लगभग आठ पृष्ठों में सहृदय की अवधारणा को स्पष्ट करने हेतु वाक् अवधारणा को उल्लेख किया गया है।[2] जिसमें ऋग्वेद के बृहस्पति सूक्त और सम्पूर्ण वाक्सूक्त को समूल उद्धृत कर उसका हिन्दी अनुवाद किया गया है। लेखक और सहृदय की व्याख्या एवं उसकी अवधारणा का आधार उपर्युक्त दोनों सूक्तों में प्रतिपादित वाक्सिद्धान्त को मानता है।

द्वितीय व्याख्यान में सहृदय का हृदय-संवाद और रसनिष्पत्ति में योगदान पर दृष्टिपात् किया गया है। हृदय-संवाद को इस व्याख्यान में सहज होकर सुख-दु:ख पहचानना बताया गया है।[3] वस्तु स्थिति यह है कि लेखक ने हृदय-संवाद एवं रस

---

1. **सहृदय**, पृ. 16, 17, 18, 19

2. वही, पृ. 21-28

3. वही, पृ. 35

निष्पत्ति दोनों ही प्रसंगों में अपनी दृष्टि का प्रयोग किया है, जिससे कि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उद्धृत सहृदय, हृदय-संवाद अथवा रस निष्पत्ति प्रकरण अस्पष्ट प्रतीत होते हैं। डॉ. मिश्र ने दोनों ही व्याख्यानों में किसी भी स्थान पर **अभिनवभारती** अथवा **लोचन** को उद्धृत नहीं किया है। जो उपर्युक्त अवधारणाओं के आकर एवं प्रकाशक ग्रन्थ हैं। सहृदय की अवधारणा को वे वेदों तलाशने का प्रयास करते हैं, किन्तु इससे यह अवधारणा स्पष्ट होती परिलक्षित नहीं होती है।

द्वितीय भाग में **अभिनवभारती** का हिन्दी अनुवाद मात्र है, जिससे सहृदय का कोई साक्षात् सम्बन्ध दृष्टिगत नहीं होता है क्योंकि रसनिष्पत्ति प्रकरण का हिन्दी अनुवाद तो अन्य पुस्तकों में भी उपलब्ध है। वह भी पाठभेद एवं पाद टिप्पणी के साथ।

डॉ. विद्यानिवास मिश्र लिखित '**सहृदय**' नाम पुस्तक में कई शोध समस्यायें भी दृष्टिगोचर होती हैं। उन्होंने किसी भी स्थान पर संदर्भों का प्रयोग नहीं किया है। न ही उनके द्वारा सन्दर्भ ग्रन्थों का उल्लेख एवं उनकी सूची की जानकारी दी गयी है। कहीं-कहीं अवश्य उन्होंने सन्दर्भों को ध्यान में रखा है। जैसे वाक्सूक्त (10-125 ऋग्वेद) आदि।[1]

पुस्तक में एक परिशिष्ट भाग भी है। जो सहृदय से कुछ ज्यादा सम्बद्ध है। उसमें **ध्वन्यालोकलोचन** में प्रतिपादित सहृदय की परिभाषा, साहित्य के अर्थ हृदय के आस्वाद पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक का यही भाग 'सहृदय की अवधारणा' की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त डॉ. सूर्यनारायण द्विवेदी कृत '**सहृदय परिकल्पना एक आधुनिक हिन्दी साहित्य**' नामक पुस्तक भी है और अन्य कई पुस्तकों में 'सहृदय' सम्बद्ध कुछ-कुछ विचार अवश्य मिलते हैं। किन्तु स्वतंत्र ग्रन्थ उपर्युक्त दो पुस्तकों के

1. **सहृदय**, पृ. 22

अतिरिक्त अनुपलब्ध हैं। अन्य पुस्तकों में भी सहृदय के स्रोत, सहृदय-हृदय एवं अन्त:सम्बन्ध पर कोई सैद्धान्तिक एवं विश्लेषणात्मक अवधारणा उपलब्ध नहीं है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इन्हीं प्रश्नों पर विचार किया गया है, इसमें सहृदय के स्रोत के रूप में कश्मीर शैव दर्शन एवं उसमें प्रतिपादित हृदय तत्त्व पर विस्तार से विचार किया गया है। सहृदय के हृदय तत्त्व के सम्बन्ध पर भी दृष्टिपात किया गया है। हृदय तत्त्व कश्मीर शैव दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है। जिसे आनन्दावस्था भी कहा जाता है, इसी कारण यह दर्शन आनन्दकारी दर्शन के रूप में प्रसिद्ध है।

प्रस्तुत शोध कार्य में तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध प्रविधि का अनुसरण किया गया है। सहृदय की व्याख्या में हृदय एवं उसके विभिन्न पर्यायों (प्रतिभा, चिति, विमर्श आदि) को समझने हेतु साहित्य में अधिकारी की अवधारणा एवं साहित्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के अन्त:सम्बन्ध को समझने हेतु उपर्युक्त प्रविधियों का आश्रय लिया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में चार अध्याय हैं। तत्पश्चात् सम्पूर्ण प्रबन्ध का सिंहावलोकन उपसंहार में दिया गया है। अन्त में सहायक ग्रन्थों की सूची दी गयी है।

प्रथम अध्याय में शैवदर्शन का सामान्य परिचय वर्णित है। कश्मीर शैव दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त आभासवाद, सृष्टि प्रक्रिया, प्रमातावादी अवधारणा, आणवोपायादि, परमशिव एवं उसकी शक्तियाँ, अनुत्तर एवं विश्वमय स्वरूप का वर्णन इस अध्याय के प्रमुख विषय हैं। हृदय-सहृदय की अवधारणा को समझने हेतु शैव दर्शन का उल्लेख करना आवश्यक था क्योंकि 'हृदय' तो कश्मीर शैव दर्शन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है एवं **अभिनवगुप्तपादाचार्य** व्याख्यात सहृदय के स्वरूप में कई शैव दार्शनिक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। जिन्हें कश्मीर शैव दर्शन के सामान्य अध्ययन के बिना नहीं नहीं समझा जा सकता।

द्वितीय अध्याय – साहित्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के अन्त:सम्बन्ध पर

आधारित है। इस अध्याय में विभिन्न दर्शनों का साहित्यशास्त्र से सम्बन्ध बताने का प्रयास किया है। अन्त में साहित्यशास्त्र एवं कश्मीर शैवदर्शन के अन्तः सम्बन्ध पर प्रमुखता से विचार किया गया है। साहित्यशास्त्र के प्रमुख विषय वक्रोक्ति, रस, काव्य प्रयोजन आदि को ध्यान रखते हुये उनका दर्शन शास्त्रीय विवेचन किया गया है। रससूत्र की मीमांसा, सांख्य, वेदान्त, न्याय दर्शन की पृष्ठभूमि में व्याख्या पर दृष्टिपात् किया गया है।

तृतीय अध्याय साहित्य में अधिकारी की अवधारणा पर आधारित है। इस अध्याय में काव्यग्राहक के लिये साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रयुक्त विभिन्न अभिधानों प्रेक्षक, नागरक, विदग्ध, सामाजिक, सहृदय, भावक एवं प्रमाता एवं उनके स्वरूप पर पृथक्-पृथक् दृष्टिपात् किया गया है। इसी अध्याय में रस स्वरूप एवं रससूत्र की लोल्लटादि आचार्यों द्वारा की गयी व्याख्याओं पर एवं रस की आस्वादरूपता एवं आस्वाद्यरूपता पर भी विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में हृदय तत्त्व का स्वरूप विवेचन एवं सहृदय की अवधारणा में उसकी भूमिका पर दृष्टिपात् किया गया है। हृदय के विभिन्न रूपों एवं पर्यायों पर भी इस अध्याय में विचार किया गया है। शोध प्रबन्ध की दृष्टि से यह अध्याय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी अध्याय में शोध समस्या का समाधान करने का प्रयास किया गया है।

अन्त में सम्पूर्ण शोध का साररूप में उपसंहार दिया गया है।

शैव दर्शन : तंत्र, प्रविधि, प्रत्यभिज्ञान

माधवाचार्य (13वीं शताब्दी)[1] के अनुसार भारतीय दार्शनिक चिन्तन को प्रमुखत: सोलह शाखाओं में विभाजित किया गया है। इन शाखाओं में दार्शनिक चिन्तन के प्रमुख विषय प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। भारतीय दर्शन के जितने भी सम्प्रदाय प्रकाश में आते हैं, उनमें अधिकतर प्रमाण व प्रमेय विषयक आधारभूमि का आश्रय लिया गया है। इन्हीं सम्प्रदायों में प्रमातावादी दर्शन 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' का नाम आता है। इसे काश्मीर शैव दर्शन एवं त्रिक दर्शन के नाम से भी अभिहित जाता है। इस दर्शन का उद्‌गम क्षेत्र कश्मीर होने के कारण इसे काश्मीर शैव दर्शन कहा जाता है। इसी को रहस्य सम्प्रदाय तथा त्र्यम्बक सम्प्रदाय भी कहा गया है। सिद्धा, नामक तथा मालिनी इन तीन आगम-समूह को शिव, शक्ति तथा अणु को, पति पाश और पशु को, शिव, शक्ति तथा नर को देवी के परा, अपरा तथा परात्परा इन तीन रूपों को मानने के कारण भेद, अभेद तथा भेदाभेद की व्याख्या के कारण इसे त्रिक कहा जाता है।[2]

यद्यपि त्रिक दर्शन का व्यवस्थित प्रवर्तन कश्मीर में नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ, किन्तु जिन आगमों तथा गुरु परम्परा के आधार पर इस दर्शन का विकास हुआ वे इससे काफी प्राचीन हैं, उनका समय निश्चित कर पाना कठिन है। त्रिक दर्शन के आधारभूत शास्त्रों को तीन शाखाओं में विभाजित किया जाता है[3]-

1. आगमशास्त्र 2. स्पन्दशास्त्र 3. प्रत्यभिज्ञाशास्त्र

तन्त्रालोक आह्निक 11, 12, 36 में बताया गया है कि श्रीकण्ठनाथ की आज्ञा से त्र्यम्बकादित्य, अमर्दक और श्रीनाथ ने त्रिविध शैवतन्त्रों का प्रवर्तन किया।

1. **सर्वदर्शनसंग्रह**
2. **हिन्दी अभिनवभारती**, पृ. 295-296
3. **परमार्थसार**, भूमिका, कमला द्विवेदी

आह्निक 13, 36 में बताया गया है कि अर्द्धत्र्यम्बक नाम से एक और आगम-सम्प्रदाय है, जिसका प्रवर्तन त्र्यम्बक की पुत्री ने किया।

उपरोक्त तीन शास्त्रीय शाखाओं को क्रमशः द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत भी कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सम्बन्ध तीसरी अद्वैतवादी शाखा से है। सोमानन्दनाथ ने अपने ग्रन्थ शिवदृष्टि के अन्तिम अध्याय में अद्वैतवादी शाखा का संक्षिप्त परिचय देते हुए स्वयं को त्र्यम्बक का 19वाँ वंशज बताया है।

सोमानन्द ने त्र्यम्बक के परवर्ती/आरम्भिक 14 वंशजों का नाम नहीं दिया है। किन्तु 15वीं से आरम्भ करके वे क्रमानुसार वंशावली परिचय देते हैं।

(15) संगमादित्य

(16) वर्षादित्य

(17) अरुणादित्य

(18) आनन्द

(19) सोमानन्द

सोमानन्द नाथ अभिनवगुप्त के प्रपितामह-गुरु थे। अभिनव का समय 950 से 1025 ई. के मध्य है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि सोमानन्द उनसे एक शताब्दी पूर्व लगभग 850 ई. में रहे होंगे। शिवाद्वयवादी स्पन्द शाखा के प्रमुख आचार्य कल्लट जो अवन्तिवर्मा के शासनकाल में हुये, भट्टेन्दुराज के सम्बन्ध से अभिनवगुप्त के प्रपितामह-गुरु थे। इस आधार पर कहा जा सकता है कि सोमानन्द एवं कल्लट समकालीन थे और दोनों का समय 850 ई. था। लगभग 825-850 ई. तक वसुगुप्त **शिवसूत्र** की खोज कर चुके थे जो शैवाद्वैत की स्पन्द शाखा का प्रमुख ग्रन्थ है। वसुगुप्त के पुत्र एवं शिष्य कल्लट ने **स्पन्दकारिका** ग्रन्थ लिखा। उनके समकालिक सोमानन्द ने

शिवदृष्टि तथा सोमानन्द के पुत्र एवं शिष्य उत्पलदेव ने लगभग 900 ईस्वी में **प्रत्यभिज्ञाकारिका** की रचना की।

इस प्रकार कश्मीर शैवाद्वैत की दार्शनिक अवधारणा की स्थापना और विकास नवीं व दसवीं शताब्दी में माना जा सकता है, जिसमें **शिवसूत्र** प्रथम ग्रन्थ है। **शिवसूत्र** एवं **स्पन्दकारिका** अद्वैत शैवदर्शन की स्पन्द शाखा के प्रमुख ग्रन्थ हैं। वहीं **शिवदृष्टि**, **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका**, प्रत्यभिज्ञा शाखा के प्रमुख ग्रन्थ हैं, जो क्रमशः सोमानन्दकृत एवं उत्पलदेवकृत हैं। इसी शृंखला में महान् दार्शनिक अभिनवगुप्तपदाचार्य का नाम आता है। उत्पलदेव के पुत्र और लक्ष्मणगुप्त ने अभिनवगुप्त को प्रत्यभिज्ञा और क्रम शाखाओं में दीक्षित किया। लक्ष्मणगुप्त के अतिरिक्त अभिनव ने भूतिराज और उनके पुत्र हेलाराज से भी शिक्षा प्राप्त की। जो सम्भवतः क्रमदर्शन के आचार्य थे। अर्द्धत्र्यम्बक सम्प्रदाय द्वारा प्रवर्तित कुलमार्ग में अभिनव के गुरु जालन्धर पीठ के शम्भुनाथ थे।

इस प्रकार अद्वैतवादी शैवदर्शन की चार शाखाएँ थीं - 1. स्पन्द शाखा 2. प्रत्यभिज्ञा शाखा 3. क्रम शाखा 4. कुल शाखा।

शिवाद्वयवाद के प्रमुख ग्रन्थ -

अद्वैतवादी शैव दर्शन के वाङ्मय का विकासकाल अतिसमृद्ध रहा है। इस काल में कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये जिनमें -

1. स्पन्दकारिका - इसकी रचना वसुगुप्त के शिवसूत्र के तान्त्रिक सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए भट्ट कल्लट ने 9वीं शताब्दी में 51 कारिकाओं के रूप में की। यह चार निष्पन्दों में विभाजित है।

2. शिवदृष्टि - इसका समय 9वीं शताब्दी उत्तरार्ध है। इसकी रचना आचार्य सोमानन्द ने की इसमें 700 कारिकायें हैं, जो 9 आह्निकों में विभाजित हैं। इस पर उत्पल ने वृत्ति व अभिनव ने **शिवदृष्ट्यालोचन** टीका ग्रन्थ लिखा।

3. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा - इसकी रचना उत्पलदेव ने 9वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में की। यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रमुख प्रवर्तक ग्रन्थ है। इसमें चार प्रकरण (अधिकार) हैं- ज्ञानाधिकार, क्रियाधिकार, आगमाधिकार तथा तत्त्वसंग्रहाधिकार। इस पर अभिनवगुप्त ने **विमर्शिनी** व **विवृत्तिविमर्शिनी** दो टीका ग्रन्थ लिखे।

4. ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति - यह उत्पलदेव की ही स्वयं की **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** पर एक लघु टीका है, जो उन्होंने दार्शनिक अंशों को स्पष्ट करने के लिये लिखी थी। इसके अलावा उत्पलदेव ने अन्य कई ग्रन्थ लिखे -

5. **ईश्वर प्रत्यभिज्ञावृत्ति** : उत्पलदेव

6. **अजड़ प्रमातृसिद्धि** : उत्पलदेव

7. **सम्बन्ध सिद्धि** : उत्पलदेव

8. **शिव स्तोत्रावली** : उत्पलदेव

शैवदर्शन की वाङ्मय शृंखला में बहुत बड़ा योगदान अभिनवगुप्त द्वारा रचित लगभग 40 ग्रन्थों का है। जिनके विषय में चर्चा आगे की जायेगी। प्रस्तुत शोध विषय का सम्बन्ध प्रमुखतः अभिनवगुप्त एवं उनके दार्शनिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों से है।

9. स्तवचिन्तामणि - भट्टनारायण कृत इस ग्रन्थ में शिव की स्तुति की गयी

---

1. **परात्रींशिका विवरण**, पृ. 69

है। क्षेमराज के अनुसार भट्टनारायण परमेश्वर के पौत्र एवं अपराजित के पुत्र थे। प्राचीन गुरु के रूप में अभिनवगुप्त ने इनका उल्लेख किया है।[1]

10. **शिवसूत्रवार्त्तिक** - इसकी रचना भट्टभास्कर ने लगभग 10वीं शताब्दी में की। यह वसुगुप्त के **शिवसूत्र** पर 390 पद्यों में टीका है। भट्टभास्कर ने वसुगुप्त की परम्परा में अपने को 7वीं पीढ़ी का शिष्य घोषित किया है।[1]

11. **तत्त्वगर्भस्तोत्र** - इसका प्रणयन भट्ट प्रद्युम्न ने किया। यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। सोमानन्द[2], उत्पलदेव[3] तथा रामकण्ठ[4] ने इस स्तोत्र के पद्यों को उद्धृत किया है।

स्पन्दकारिका पर टीका ग्रन्थ -

12. **स्पन्दसर्वस्व** - यह भट्टकल्लट द्वारा अपने ही ग्रन्थ पर **स्पन्दकारिका** पर अत्यन्त संक्षिप्त स्वोपज्ञा वृत्ति है। इसे **स्पन्दवृत्ति** भी कहा जाता है।

13. **स्पन्दवृत्ति** - इसकी रचना 875 ई. रामकण्ठ ने की। रामकण्ठ भट्ट कल्लट के समकालीन तथा उत्पलदेव के शिष्य थे।

14. **स्पन्दनिर्णय** - इस टीका ग्रन्थ का प्रणयन क्षेमराज ने किया।

15. **स्पन्दसन्दोह** - स्पन्दकारिका की प्रथम कारिका पर यह अत्यन्त विशद टीका ग्रन्थ है, जिसकी रचना क्षेमराज ने की।

16. **स्पन्दप्रदीपिका** - उत्पलवैष्णव की यह टीका विस्तृत, सारगर्भित तथा वैदुष्यपूर्ण है।

---

1. **शिवसूत्रवार्त्तिक**, 1
2. **शिवदृष्टि**, 3.1
3. **शिवदृष्टिवृत्ति**, 1.15
4. **स्पन्दविवृत्ति**, पृ. 129

क्षेमराज एवं उनके ग्रन्थ -

ये अभिनवगुप्त के शिष्य थे। इनका समय 11वीं शताब्दी है। इनके प्रमुख ग्रन्थों गें -

1. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् **2. पराप्रवेशिका**

3. बोधविलास **4. विज्ञान भैरव - उद्योत (टीका)**

5. स्वछन्दतन्त्र - (उद्योत टीका)6. नेत्रतन्त्र उद्योत

7. शिवस्तोत्रावली - टीका **8. साम्बपंचाशिका - टीका**

9. स्तवचिन्तामणि - विवृत्ति।

इनके अतिरिक्त शैवदर्शन के पश्चाद्वर्ती कई प्रमुख आचार्य हुए, जिन्होंने कई दार्शनिक ग्रन्थ लिखे। इनमें क्षेमराज के शिष्य योगराज जिन्होंने **परमार्थसार** पर टीका लिखी। जयरथ 1200 ई. ने **तन्त्रालोक** पर **विवेक टीका** लिखी। इसके अतिरिक्त भास्करकण्ठ का एक महत्त्वपूर्ण नाम है, जिसने **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** पर **भास्करी टीका** लिखी।

अभिनवगुप्त एवं उनके ग्रन्थ -

अभिनवगुप्त प्रत्यभिज्ञा दर्शन के शीर्षस्थ आचार्य हैं। इनका समय 10वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध व 11वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के मध्य माना जाता है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने शैवदर्शन के कई ग्रन्थों का प्रणयन किया। साथ ही साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की। इसीलिये उनके साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों को शैवाद्वैतवादी दार्शनिक दृष्टि के बिना समझा नहीं जा सकता है और वैसे भी साहित्यशास्त्र प्रत्यभिज्ञा के काफी समीप भी प्रतीत होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने लगभग 40 ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनमें कुछ

टीका ग्रन्थ हैं, कुछ साहित्यशास्त्रीय (क्रम संख्या 7, 8) और कुछ मौलिक ग्रन्थ हैं -

1. बोधपञ्चदशिका	2. मालिनी-विजय-वार्तिकम्
3. परात्रिंशिका-विवरण	4. तन्त्रालोक
5. तन्त्रसार	6. तन्त्रवटधानिका
7. ध्वन्यालोकलोचन	8. अभिनवभारती
9. भगवद्गीतार्थसंग्रह	10. परमार्थसार
11. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी	12. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी
13. पर्यन्तपञ्चाशिका	14. घटककर्परकुलक-विवृत्ति
15. अनुत्तराष्टिका	16. परमार्थद्वादशिका
17. परमार्थचर्चा	18. महोपदेशविंशतिकम्
19. क्रमस्तोत्रम्	20. भैरवस्तोत्रम्
21. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम्	22. अनुभवनिवेदनम्
23. रहस्यपञ्चदशिका	24. तन्त्रोच्चयय
25. बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद	26. अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनीवृत्ति
27. पुररवोविचार	28. क्रमकेलि
29. शिवदृष्ट्यालोचनम्	30. पूर्वपञ्चिका
31. पदार्थप्रवेशनिर्णय टीका	32. प्रकीर्णकविवरण
33. काव्यकौतुकविवरण	34. प्रकरण विवरण

35. कथामुखतिलकम् **36. लध्वी प्रक्रिया**

37. भेदवाद-विदारण **38. देवीस्तोत्र-विवरण**

39. तत्त्वाध्वप्रकाशिका **40. शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्रम्।**

अद्वैत शैवदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त -

आभासवाद -

विश्वप्रपञ्च के व्याख्यान हेतु शैवाद्वैत दर्शन में छत्तीस तत्त्वों[1] की कल्पना की गयी है। ये तत्त्व स्वतंत्र नहीं, किन्तु परमशिव का आभास हैं। वस्तुत: यह 'आभास' परमशिव की विश्वमयी इच्छा का स्थूल रूपान्तरण है। यह समस्त विश्व अन्तत: परम शिव का ही स्वरूप है। अभिनवगुप्त सम्पूर्ण जगत् को अनुभवगम्य एवं वास्तविक मानते हैं क्योंकि वह सर्वाभिव्यापक समष्टि चैतन्य अथवा आत्मा की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति स्वरूपत: वैसी ही है जैसे योगी की सृष्टि उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति है, किन्तु यह आत्मा के अनुभव के अतिरिक्त कुछ नहीं है और **इसकी सत्ता आत्मा में ही है, ठीक वैसे ही जैसे हमारे भावों की सत्ता हमारे अन्दर ही है।** यही आभासवाद है। आभास क्या है? इसकी व्याख्या में **डॉ.** पाण्डेय कहते हैं कि -

''यह सब जो दिखलाई देता है, वह सब जो प्रत्यक्ष या चिन्तन का विषय है, वह सब जो हमारी बाह्य इन्द्रियों अथवा अन्तर्मन की पहुँच में आता है, वह सब जिसके विषय हम उस समय भी सचेत हैं जब हमारी इन्द्रियाँ और मन कार्य करना बन्द कर देते हैं, जैसे समाधि में या गहरी निद्रा में वह सब जिसके विषय में मानव चेतना, सीमित होने के कारण, सामान्यत: अभिज्ञ नहीं हो सकती और जो इस कारण केवल आत्म-साक्षात्कार का ही विषय है : संक्षेप में, जो कुछ भी है अर्थात् जो कुछ भी किसी प्रकार की भाषा का प्रयोग संभव है, चाहे वह प्रमाता हो या प्रमेय, ज्ञान का साधन हो, स्वयं ज्ञान ही, वह सब आभास है।''[2]

---

1. **परमार्थसार,** 10, 11

2. **ABHINAVA GUPTA,** P. 320

आभासवाद के विषय में **परमार्थसार** में कहा गया है कि ''जिस प्रकार विचित्र नगर, ग्राम आदि अविभक्त (अभिन्न) होने पर भी दर्पण बिम्ब में एक-दूसरे से तथा दर्पण से भी भिन्न रूप में भासित होते हैं, उसी प्रकार यह जगत् अत्यन्त निर्मल परम भैरम की संवित् से अभिन्न (विभागशून्य) होने पर भी एक-दूसरे से तथा उस (परम तत्त्व) से भी भिन्नरूप में भासित होता है।[1] इसी का समर्थन **तन्त्रालोक**[2] एवं **प्रत्यभिज्ञाहृदय**[3] भी किया गया है।''

आभासवाद के अनुसार चरम सत्ता के दो पक्ष हैं -

1. विश्वोत्तीर्ण 2. विश्वमय

1. विश्वोत्तीर्ण - इसे अनुत्तर भी कहा जाता है। यह अव्यवहार्य और अव्यपदेश्य है। कोई भी वस्तु इससे परे नहीं है।[4] यह विचारों का विषय नहीं है, केवल अनुभवगम्य है हमारे विचार उसके अत्यन्त तुच्छ अंश को स्पर्श कर पाते हैं। यह विश्व उसकी एक कला मात्र है, वह इससे परे समस्त है, परन्तु यह समस्त हमारे सीमित अनुभवों से विलक्षण है। उसे हम निषेधात्मक या भावात्मक - किसी भी विशेषण से व्यक्त नहीं सकते।[5] परमशिव की यह स्थिति स्वत: सिद्ध है। यह प्रमाणों से भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि यह स्वयं सम्पूर्ण प्रमाणों का आश्रय है -

---

1. दर्पणबिम्बे यद्वन् नगरग्रामादि चित्रमविभागि।
   भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च॥
   विमलतम परम भैरवबोधात् तद्वद् विभागशून्यमपि।
   अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभति जगदेतत्॥ **परमार्थसार**, 12, 13
2. निर्मले मुकुरे यद्वत् भान्ति भूमिजलादय:।
   अभिश्रास्तद्वदेकस्मिं श्चित्राथे विश्ववृत्तय:॥ ***तन्त्रालोक***, *2-4*
3. तत्राना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्। **प्रत्यभिज्ञाहृदय**, 3
4. न विद्यते उत्तरं प्रश्नं प्रति वचो रूपं यत्र। **परात्रिंशिकाविवरण**, 19
5. उत्तरं न शब्दनं तत् सर्वथा ईदृशं तादृशम् इति व्यवच्छेदं कुर्यात् तदृशं यत्र न भवति अव्यवच्छिन्नमिदमनुत्तरम्। वही, 21

विश्ववैचित्र्यचित्रस्य समभित्तितलोपमे।

विरुद्धाभावसंस्पर्शे परमार्थसतीश्वरे॥

प्रमातरि पुराणे तु सर्वदा भातविग्रहे।

किं प्रमाणं नवाभास: सर्वप्रमितिभागिनी॥[1]

चरम सत्ता की यह अवस्था मौलिक समरसता आत्म अवस्था होने के कारण द्वैतहीन, द्वन्द्व रहित एक स्वाभाविक अवस्था है। यही पूर्णत: स्वरूपविश्रान्ति की अवस्था है। साथ ही विशुद्ध अथवा मलों से हीन प्रकाश की अथवा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इन तीनों की अविभागमयी प्रमिति की अवस्था होने के कारण उसमें उत्तरत्व का कलङ्क तनिक भी नहीं है।

विश्वमय -

चरम सत्ता का यह पक्ष प्रकाश विमर्शमय है। प्रकाशविमर्शमयता के कारण ही परमशिव 'विश्वमय' स्वरूप है। 'प्रकाश' और 'विमर्श' दोनों परस्पर अवियोज्य रूप में नित्य संयुक्त हैं। 'प्रकाश' शिव तथा 'विमर्श' शक्ति का द्योतक है। परम की विश्वमयी अवस्था ही सम्पूर्ण जगत् की अभिव्यक्ति का कारण है। इसमें प्रकाश पक्ष दर्पण के आधार तत्त्व है और विमर्श पक्ष प्रतिबिम्ब[2] रूप 'विमर्श' के बिना केवल 'प्रकाश' विचार की सीमा से परे है। यही रूप शिवशक्तिमय है। अभिव्यक्ति का आधार प्रकाश और अभिव्यक्ति की शक्ति विमर्श है। विश्वात्मा अपने आपको आधारभूमि बनाकर उस पर अपने भीतर स्थित विश्व को प्रकट करता है।[3] अभिव्यक्त विश्व की विश्वात्मा से भिन्नता दर्पण व उसके प्रतिबिम्ब जैसी है।

---

1. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, 2.3.15-16
2. **अभिनवगुप्त, पृष्ठ** 27
3. **प्रत्यभिज्ञाहृदय,** 2

निर्मले मुकुरे यद्वत् भान्ति भूमिलतादयः।

अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः॥ *(तं. आ. 2.4)*

प्रकाश शिव है तथा विमर्श 'शक्ति' है। शक्ति ही परमशिव का ऐश्वर्य है अन्यथा वह एक स्थाणु मात्र है।[1] प्रत्यभिज्ञा दर्शन में विमर्श को आनन्द की संज्ञा भी दी गयी है। यह विमर्श उपचारतः परमशिव का हृदय है भट्ट नारायण[2] ने **स्तवचिन्तामणि** ग्रन्थ में इसी आनन्द रूप विमर्श को परमशिव का सारभूत (हृदयरूप) बताया है।[3] इसे ही विश्व की बीज शक्ति भी कहा गया है। अतः वह विश्व का भोक्ता कहलाता है।[4] वह अपने प्रकाशविमर्शमय विश्वात्मक रूप में भी अनुत्तर की तरह निर्गुण हैं।

क्योंकि वह माया प्रकृति आदि के रूप में आभासित होकर भी 'आभासवाद' की अवधारणा के अनुसार अपने पारमार्थिक स्वरूप से च्युत नहीं होता। वह स्वयं तो अनादि और अनन्त है[5] किन्तु समस्त विश्व का आदि और अन्त है।[6] इस विश्व नाटक की प्रस्तावना और उपसंहार करने वाला वही एक मात्र कवि है।

परमशिव एवं उसकी शक्तियाँ -

परमशिव का स्वरूप पूर्ण गहन (माया) से परे स्थित, अनादि, एक, अनेक रूपों से (गुहाओं) प्रमाताओं में प्रविष्ट, सभी के विश्रान्तिस्थान समग्र चराचर में व्याप्त बताया गया है। वह परम परमशिव पूर्ण प्रमाता है। वह प्रकाशस्वरूप, परिपूर्ण तथा

---

1. अपर्णैका सेव्या जगति सकलैर्यत्परिवृतः।

   पुराणोऽपि स्थाणुः फलति किल कैवल्य पदवीम्॥ **आनन्दलहरी,** 7

2. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका,** 1.5.14

3. सर्वविभ्रमनिर्मोक निष्कम्पममृतहृदयम्।

   भवज्ज्ञानाम्बुधेर्मध्यमध्यासीयापि धूर्जटे॥ **स्तवचिन्तामणि,** 95

4. वही, 62

5. निगुर्णोऽपि गुणज्ञानो ज्ञेय एको जयत्यजः।

   निष्कामोऽपि प्रकृत्या यः कामनानां परं फलम्॥ वही, 28

स्वात्मविश्रान्ति के कारण महानन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया से भरा हुआ तथा अनन्त से पूर्ण सभी विकल्पों से रहित, शुद्ध, शान्त, लय और उदय से विहीन है, उसी में 36 तत्त्वात्मक विश्व प्रकाशित होता है।[1] उसकी स्वरूपरूप चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया नामक पाँच शक्तियाँ, जो अनन्त शक्ति समुदाय की कारण हैं।[2]

उन्हीं पाँच शक्तियों को भिन्नतया अर्थात् अतद्व्यावृत्ति से पाँच संख्या वाले तत्त्वों के रूप में प्रकाशित करता है।[3] उस परमशिव की पाँच शक्तियाँ हैं -

1. चित्शक्ति *2. आनन्द शक्ति* *3. इच्छा शक्ति*

4. ज्ञान शक्ति 5. क्रिया शक्ति।

TH-10067

1. चित्शक्ति -

यह परमशिव की आत्मप्रकाशन की स्थिति है। ईश्वरता, कर्तृता, स्वतन्त्रता, पूर्ण, अहेता के पर्याय हैं। यही परमशिव की प्रथम अभिव्यक्ति है। यह शुद्धरूप प्रमातृनिष्ठ है और इसका कोई विधेयात्मक या वस्तुनिष्ठ संदर्भ नहीं है। यह पूर्णता परामर्श या आत्मपरामर्श है। क्षेमराज ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह शक्ति 'अशेषकारणविभवप्रथामित्ति:' है। अर्थात् यह शक्ति समस्त विश्वभासन का आधार है।

यह वस्तुत: आत्म चैतन्य अर्थात् विमर्श का प्रकाश है, क्योंकि प्रकाश में ही

---

1. भारूपं परिपूर्णं स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम्।
   इच्छासंवित्करणैर्निर्भरितम् अनन्तरशक्तिपरिपूर्णम्॥
   सर्वविकल्पविहीनं शुद्धं शान्तं लयोदयविहीनम्।
   यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्म जगत्॥ **परमार्थसार**, 10,11
2. चिदानन्देषणा ज्ञानक्रिया पंचमहातनु:।
   विवर्तने महेशानस्तत्रद्वर्गेषु पंचधा॥ **तन्त्रालोक** (विवेक टीका) 6.49
3. शिव: स्वतन्त्रदृग्रूप: पंचशक्तिसुनिर्भर:।
   स्वातन्त्र्याभासितामिदा पंचाधा प्रविभ्यते॥ **तन्त्रालोक**, 4.48

Jawaharlal Nehru University Library

विमर्श रहता है।[1] सृष्टि के आभास क्रम में सर्वप्रथम शक्ति का चित् रूप ही क्रियाशील होता है। चित्शक्ति के कारण शिवतत्त्व स्वत: प्रकाशित रहता है क्योंकि चित् शक्ति आत्मप्रकाशन का सामर्थ्य है। इसलिये इस तत्त्व के प्रमाताओं का अनुभव केवल 'अहम्' रूप होता है।[2] यह पूर्णहन्ता की स्थिति है। इस स्थिति में प्रमेयता का किंचित् मात्र भी आभास नहीं होता।

2. आनन्द शक्ति -

आनन्द शक्ति को ही परमशिव 'स्वातन्त्र्य' कहते हैं।[3] परमशिव अपनी इसी शक्ति से अपनी शक्तियों को भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में व्यक्त करता है। इसलिये इसे विमर्श भी कहते हैं। परमशिव का यह अभिव्यंजन बाह्य उल्लास का अभिलाष है। इसे उल्लिलसिषा[4] कहते हैं। यह परमेश्वर का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है अतएव इसे उसका हृदय[5] भी कहा जाता है क्योंकि अव्यक्त रूप में विश्व इसी शक्ति में अवस्थित रहता है।[6] शक्ति तत्त्व में भी प्रमेयता का आभास स्पष्ट नहीं होता। अत: शक्ति तत्त्व को स्थूलोन्मुखता की दिशा में एक अत्यन्त अस्पष्ट स्फुरण कहा जा सकता है। यदि 'शिव' तत्त्व में प्रमाता का अनुभव 'अहम्' है तो शक्ति तत्त्व में 'अहमस्मि' का रूप धारण कर लेता है। शक्ति तत्त्व का आनन्द शक्ति पूर्णचेतना है। वह शिव तत्त्व से अवियोज्य रूप

---

1. प्रकाशरूपता ज्ञानमतत्रैवस्वातन्त्र्यात्मा विमर्श। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** 1.8.4,
2. निराभासात् पूर्णादहमिति पुराभासयति तत्। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** 1.1
3. स्वातन्त्र्यं आनन्दशक्ति:। **तन्त्रसार,** 1
4. श्री श्री परात्रिंशिका,, पृष्ठ 293
5. सैवा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिन:। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** 1.5.14
6. ब्रह्माण्डगर्भिणीं व्योमव्यापिन: सर्वतो गवे:।

   परमेश्वरहंसस्य शक्तिं हंसीमिव स्तुम:॥ **स्तवचिन्तामणि,** श्लोक सं. 8

से संयुक्त है। इसीलिए इसे 'स्वात्मविश्रान्ति' की स्थिति भी कहते हैं। स्वात्मविश्रान्ति होने के कारण यही पूर्णानन्द की स्थिति है।

शिव की इस स्थिति में बिना किसी बाह्य पदार्थ या साधन की अपेक्षा किये, पूर्ण स्वातन्त्र्य के साथ, अबाधित एवं पूर्ण शान्त रूप हुआ, अपने ही अवियोज्य सारभूत अंश-शक्ति का उपभोग करता है। वास्तव में 'शिवशक्ति' अथवा प्रकाश-विमर्श अथवा चित्-आनन्द के परस्पर अवियोज्य नित्स सामरस्य को ही पूर्णानन्द[1] कहते हैं। यह पूर्णानन्द शिव के अतिरिक्त अन्य प्रमाता को प्राप्त नहीं है।

तथा ते सौन्दर्यं परमशिवदृङ्मात्र विषयः।

कथङ्कारं ब्रूमः सकल निगमागोचरा गुणो॥[2]

संसार में जो कुछ आनन्द का अंश दिखाई पड़ता है, वह शिव के पूर्णानन्द का ही एक अंश मात्र है -

त्रैलोक्ये यो यावनानन्दः कश्चिदीक्ष्यते।

स बिन्दुर्यस्थ तं वन्दे देवमानन्दसागरम्॥[3]

इच्छा शक्ति -

जे. सी. चटर्जी के अनुसार - इच्छा शक्ति एक प्रकार के अनुभव की शक्ति है, जिससे प्रमाता अपने सर्वोत्कृष्ट (Supremelyable) तथा परम अवाधित इच्छा शक्ति वाला समझता है। इच्छा शक्ति एक 'दिव्य आश्चर्य' (Divine wonder) के अनुभव की शक्ति है, जिसका स्वरूप है- क्या करूँ (What to do) इसका एक रूप और है जो

---

1. अभिनवगुप्त के रसवाद के अनुसार नाट्यादि दर्शन द्वारा सहृदय हृदय की रसचर्वणा शक्तित्व के पूर्णानन्द की स्थिति में होती है।

2. **आनन्दलहरी**, 2

3. **स्तवचिन्तामणि**, 3

अपने को एक 'दिव्य निश्चय' (Divine resolve) के रूप में प्रकट करती है यथा क्या करना है, क्या उत्पन्न करना है (What is to be done or created) इच्छा शक्ति के पश्चात् क्रमशः ज्ञान और क्रिया शक्ति का उदय होता है। ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ वस्तुतः इच्छा शक्ति का ही स्थूलतर रूपान्तरण या प्रसारण है।[1] अतः इच्छा शक्ति को ज्ञान और क्रिया शक्ति की साम्यावस्था कहा जा सकता है, 'इच्छाया हि ज्ञानक्रिययोः साम्यरूपाभ्युगमात्मकत्वात्।'[2]

इच्छा शक्ति का प्रधान रूप से स्फुरण 'सदाशिव' तत्त्व में होता है। प्रमेय रूप विश्व का आभास यहाँ पर प्रतीत होने लगता है, परन्तु प्रमेयता का जो आभास सदाशिव में होता है, वह सभी ध्यामलप्रायः और अस्फुट ही रहता है।[3] इस तत्त्व के प्रमाता का जो अनुभव है उसका रूप है - 'अहमिदमस्मि'। यहाँ 'अहम्' प्रमातृ तत्त्व है तथा 'इदम्' प्रमेय तत्त्व है। इस अनुभव में प्राधान्य 'अहन्ता' का ही रहता है क्योंकि 'इदन्ता' का आभास अभी पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता है। विश्व की सत्ता का सर्वप्रथम अनुभव इसी तत्त्व में होता है। अतएव इस तत्त्व को 'सादाख्य' भी कहते हैं।[4] चूँकि शिव और शक्ति तत्त्व नित्य रूप में अवस्थित रहते हैं, अतः 'सादाख्य' तत्त्व को आभास क्रम में प्रथम कहा जा सकता है।[5] वस्तुतः शुद्ध सत् रूप में प्रथम आभास सादाख्य तत्त्व का ही होता है।

ज्ञान शक्ति -

तन्त्रसार में ज्ञान शक्ति के विषय में कहा गया है 'कि -

---

1. Kashmir Saivism, p. 44
2. **तन्त्रसार**, द्वितीय आह्निक
3. सदाशिव तत्त्वे इदं भावस्यध्यामलता। **भास्करी**, भाग दो, पृ. 223
4. सादाख्यम् सदाख्यायां भवम्। यतः प्रभृति सदिति प्रख्या। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** 3.12
5. सृष्टिकमोपदेशादौ प्रथममुचितम्। तत् सादाख्यं तत्त्वम्। वही, 3.1.2

''आमर्शात्मक ज्ञानशक्ति''[1] वेद्यों (प्रमेयों) के प्रति ईषद्रूप में औन्मुख्य ही आमर्श है। ज्ञान शक्ति में वेद्यों के प्रति प्रतिक्रिया की भावना का ग्रहण नहीं होता। ज्ञान शक्ति अपने शुद्ध रूप में प्रमेय की अवस्थिति की केवल चेतना मात्र है। अत: कहा जा सकता है कि ज्ञान शक्ति से प्रमाता पदार्थों का अपनी चेतना से तथा पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करता है।

ज्ञानशक्ति का प्राधान्य 'ईश्वर' तत्त्व में होता है। इस तत्त्व में 'इदन्ता' का स्फुट आभासन हो जाता है।[2] इस तत्त्व के प्रमाता का अनुभव 'इदमहमस्मि' का रूप धारण कर लेता है। यहाँ 'इदम्' को प्रथम रखकर यह सङ्केत किया गया है कि सदाशिव तत्त्व के विपरीत इस तत्त्व में इदन्ता रूप विश्व को अपने से पृथक् 'सदाशिव' तत्त्व में 'इदन्ता' की ध्यामलता है और ईश्वर तत्त्व में स्फुटता तथापि 'इदन्ता' का आत्म तत्त्व से तादात्म्य दोनों ही तत्त्वों से है।

क्रियाशक्ति -

'स्वप्रथारूपसमृद्धयात्मा क्रियाशक्ति:' अर्थात् जिससे परमशिव किसी भी प्रकार का और सब प्रकार का आकार धारण कर सकते हैं, वह क्रिया शक्ति है। 'सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्ति:' क्रिया शक्ति का प्राधान्य 'सद्विद्या' तत्त्व में होता है। इस तत्त्व के प्रमाता के अनुभव का स्वरूप अहमिदम्-इदमहम् होता है। इस अनुभव में 'अहन्ता' और 'इदन्ता' दोनों का एक 'चित्' में ही समानाधिकरण्य होता है। यद्यपि इस तत्त्व के अनुभव में अनुभव के दोनों तत्त्वों अहन्ता और इदन्ता का प्राधान्य हो जाता है तथपि अनुभव की शुद्धता में कोई विकृति नहीं आती क्योंकि यहाँ भी 'इदन्ता' को बोध रूप अर्थात् अहन्ता रूप में ही ग्रहण किया जाता है। इस तत्त्व के अनुभव में एक

---

1. **तन्त्रसार** (उपोद्घात)

2. ईश्वरतत्वे त्वध्यामलता - **भास्करी**, भाग दो, पृ. 223

विशेषता का आधान यह होता है कि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का अनुभव किया जाता है -

इदं भावोपन्नानां वेद्यभूमिमुपेयुषाम्।

भावानां बोधसारत्वात् यथावस्त्ववलोकनात्॥[1]

शक्ति के पाँचों स्वरूपों से सम्पन्न शिव अपने आप समस्त विश्व की अभिव्यक्ति करते हैं। वस्तुतः यह जगत् 'शिव' की शक्ति का ही विस्तृत रूप है जिसे परमशिव ने अपने में (स्वभित्तौ)[2] स्वेच्छा से अभिव्यक्त किया है, परन्तु इसे ध्यान में रखना है कि बिना 'शक्ति' के 'शिव' एक प्रकार से जड़वत् ही है। इसी 'शक्ति' के सहारे शिव अपने में अहं का बोध प्राप्त करते हैं-

शिवः शक्त्या युक्ते यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।

न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥[3]

परन्तु यह भी सत्य है कि बिना शिव के शक्ति भी कुछ नहीं कर सकती, इन दोनों में अभेद है,[4] तादात्म्य है, सामरस्य है। तभी तो परमशिव पूर्ण है।

विसृष्टामेक सद्बीजगर्भं त्रैलोक्य नाटकम्।

प्रस्ताव्य हर संहर्तुं त्वत्तः कोऽन्यः कविः क्षमः॥[5]

भारतीय मनीषा प्रारम्भ से ही आत्यन्तिक आनन्द की खोज में रही है। साथ

---

1. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका**. 3.1.4
2. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्**, 2
3. **आनन्दलहरी।**
4. न शिवः शक्तिरहिता न शक्ति शिववर्जिता। - **श्रीतन्त्रालोक** 3.68, भाग 1, पृ. 380
5. **स्तवचिन्तामणि, 59**

ही मुक्ति के लिये प्रयासरत रही है। इस चिन्तन परम्परा में इस बात पर जोर दिया गया है कि आत्म साक्षात्कार कैसे हो? इसी प्रश्न के उत्तर में भारतीय दार्शनिक परम्परा में अनेक दर्शन सम्प्रदायों का उदय हुआ। इनमें बौद्ध, वेदान्त, शैव आदि सम्प्रदाय में प्रकाश आये आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष ही सभी का प्रमुख उद्देश्य है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का भी यही उद्देश्य है। उनके अनुसार मोक्ष की प्राप्ति हेतु अज्ञानावरण-निवृत्ति ही मात्र उपाय है। अज्ञान बन्धन का कारण है यह तीन मलों के आश्रय में जन्म लेता है।

1. आणव मल -

आणव मल शिव के स्वात्म-प्रच्छादन की वह इच्छा जिससे उसके असीम स्वरूप का अवभासन अणु के रूप में होने लगता है। इससे अगणित जीवों का उदय होता है जिनका स्वरूप है - अपने कल्पित अपूर्ण स्वरूप की चेतना। उत्पलदेव ने इसके दो प्रकार बताये हैं -

1. ज्ञातृत्त्व शक्ति का संकोच अर्थात् स्वातन्त्र्य की हानि।

2. ज्ञातृत्त्व शक्ति का संकोच अर्थात् बोध रूप स्वातन्त्र्य का भी न हो देना।[3]

अर्थात् 'चित्तत्त्व का स्वरूप ज्ञातृत्त्व और कर्तृत्त्व से है। उसके कारक को आवृत्त करने वाला आणव मल है।'[2]

2. कार्म मल -

गणेश त्रय. देशपाण्डे का कहना है कि - यह अनियत इच्छा रूप है। आणव

---

1. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।

द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः॥ **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी,** 3.2.4

2. इह ज्ञातृकर्तृरूपं तावच्चित्तत्वस्य स्वरूपं, तस्यापहारो नामाणवं मलं येनासावणुः संकुचितो जातः। वही

मल अनियत और असीम कामना का निमित्त है। यह एक शक्य इच्छा है जिसका अपने आप में कोई नियत विषय नहीं है, किन्तु जब यह कार्य-रूप में जन्म लेती है तो यह मायाजनित वस्तुओं के साथ आत्मा के अगणित संसर्गों को उत्पन्न करती है।[1] उत्पलदेव के अनुसार यही संसार का प्रमुख कारण[2] है।

3. मायीय मल -

कार्म मल और कर्म संस्कार के कारण आत्मा का जिससे (शरीरादि) का भी संसर्ग होता है, मायीय मल हैं। अर्थात् वह सब जो आत्मा की मनोभौतिक शक्तियों को सीमित कर देता है, मायीय मल है। शैव दार्शनिकों के अनुसार यह **वेद्य प्रथा**[3] है। आणव मल में स्वातन्त्र्य का सङ्कोच होता है, परन्तु वेत्ता की स्थिति का विपर्यास नहीं होता। फलतः 'इदन्ता' की भासना 'अहन्ता' के ही रूप में होती है। परन्तु मायीय में वेद्य (विषय) की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार तीन मल बन्धन के कारण हैं। 'आणव मल' 'कार्ममल' का जनक है और 'कार्ममल' 'मायीय मल' का उद्भावक है। आत्मा इन तीनों मलों से ठीक उसी प्रकार आवृत्त रहती है, जिस प्रकार एक अङ्कुर या कण कम्बुक, किंशारुक और तुष से आवृत्त रहता है।[4]

मलों को शिव की आत्म-प्रच्छानेच्छा मात्र कहा गया है। उसकी तिरोधान

---

1. **अभिनवगुप्त**, पृ. 20

2. देवादीनां च सर्वेषां भविनां त्रिविधं मलम्।

   तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्य संसारकारणम्॥ **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, 3.2.106.

3. भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका**, 3.2.5

4. तुष कम्बुक किंशारुकमुक्तं बीजं यथाङ्कुरं कुरुते।

   नैव तथाणव माया कर्मवियुक्तो भवाङ्कुरं ह्यात्मा॥ **परमार्थसार**, 57

की इच्छा माया शक्ति है। इस प्रकार उपर्युक्त तीन मल माया जन्य हैं।[1]

शैव दर्शन में 36 तत्त्व माने गये हैं, इन्हें दो प्रकार से विभाजित किया जाता है - 1. शुद्धाध्वा 2. अशुध्वा। यही सृष्टि प्रक्रिया के दो रूप हैं।

शुद्धाध्वा -

'शुद्धाध्वा' में पाँच तत्त्वों की गणना की गयी है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या।[2] ये तत्त्व इन्द्रियातीत एवं पूर्णत: निरुपाधिक हैं। उक्त पाँचों तत्त्वों के प्रमाता[3] समस्त विश्व को अपने से अपृथक् रूप में अनुभव करते हैं। प्रमाता और प्रमेय में भेदबुद्धि की अशुद्धता माया के कारण आती है। ये माया से परे हैं, अत: इन्हें शुद्धाध्वा कहा जाता है।

अशुद्धाध्वा -

इस क्रम में माया से लेकर पृथिवी पर्यन्त 31 तत्त्व माने गये हैं। इस प्रक्रिया में माया की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति होती है। माया की पंच उपाधियाँ - कला, विद्या, काल, राग और नियति एवं स्वयं माया मिलकर षट्कञ्चुक कहे जाते हैं। काल, कला, नियति, राग एवं विद्या पाँच तत्त्व पुरुष की उपाधियाँ मानी गई हैं। इन पंच उपाधियों से अवच्छिन्न परमशिव ही नाना पुरुषों में आभासित होता है। वस्तुत: पुरुष परमशिव का सङ्कुचित आभास मात्र है। इस क्रम में प्रकृति-पुरुष अन्य 24 तत्त्व इसी क्रम में आते हैं। अशुद्धाध्वा सृष्टि का कर्त्ता अनन्त[1] है, जो मलों की सहायता से सृष्टि कर्म संपादित

---

1. मायाशक्त्यैव तत्त्रयम्। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका** 3.2.15

2. तदेवं पञ्चकमिदम् शुद्धोध्वा परिभाष्यते।

   तत्र साक्षाच्छिवेच्छैव कर्त्र्याभासित भेदिका॥ **तन्त्रालोक** 6.55

3. शांभवा: शक्तिजा: मंत्रमहेशा मन्त्रनायका:।

   मन्त्रा इति विशुद्धा स्युरमी पञ्चगणा: क्रमात्॥ **तन्त्रालोक** 6.52, 5.3.54

करता है।

माया -

माया अशुद्ध सृष्टि की प्रथम अभिव्यक्ति है। माया विश्वात्मा की विश्वनिर्माण की कर्त्तृत्व शक्ति है। यह शिव की आत्मा का आवरण है।[2] माया परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति की अभिव्यक्ति के द्वैत या बहुत्त्व का कारण है। परमेश्वर के बहुत्त्व आभासन की इच्छा इसी का व्यापार है।[3] यह कलादि पंचकंचुकों का उपादान कारण है।

कला -

यह तत्त्व पंचकंचुकों में प्रथम कंचुक है। यह माया का प्रथम उत्पाद भी है। इस स्थिति में पुरुष सीमित हो जाता है। यह सर्वकर्तृत्त्व को किंचित्कर्तृत्त्व में परवर्तित कर देता है। **तन्त्रालोक** में कहा गया है कि कला के आलिङ्गन से अणु में किंचित्कर्तृत्व का भाव उदित होता है।[4]

विद्या -

परमशिव की किंचित् वेदनात्मिका शक्ति को विद्या कहा गया है। यह अशुद्धाध्वा है, अत: इसे अविद्या या अशुद्ध विद्या भी कहते हैं। इसमें सर्वज्ञातृत्त्व शक्ति

---

1. शुद्धेऽध्वनि शिव: कर्त्ता। प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभु:। **तन्त्रालोक**, 8.77
2. परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घट सम्पादनं महेशस्य।
   देवी माया शक्ति: स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्॥ **परमार्थसार**, 15
3. माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यक्तिरेकिणी।
   भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथा हि स तया कृत:॥ **तन्त्रालोक** 6.46
4. कला हि किंचित्कर्तृत्त्वं सूते स्वालिङ्गनादणो:॥
   तस्याश्चाप्यणुनान्योयं ह्यञ्जने सा प्रसूयते॥ **तन्त्रालोक** 9.176

माया द्वारा आवृत्त होकर अल्पवेद्यमात्र ज्ञान का उद्भावन करती है। ऐसा **षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह** में कहा गया है :-

सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा।

ज्ञानमुद्भावयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैरद्यैः॥ 9॥

बुद्धि में प्रतिबिम्बित पदार्थों की भिन्न-भिन्न प्रतीति ही विद्या का कार्य है।

राग -

राग के सन्दर्भ में **तन्त्रालोक** में कहा गया है कि जो अणु में कुछ करने और कुछ जानने का व्यासंग पैदा करता है उसे राग कहते हैं।[3] वही अणु को उन-उन प्रतिनियत वस्तुओं में उपरञ्जित करता है। इसी का समर्थन **मालिनीविजयोत्तरतंत्र** में भी किया गया है - 'राग अणु पुरुष को अशुचि भोगों में अनुराग प्रदान करता है।'[2]

काल -

काल पूर्वापर का क्रम है, वह ज्ञान, क्रिया तथा प्रमेय तीनों में ही क्रम की उद्भावना करता है। काल में प्रमाता अनुभव करता है कि इस तुटि में, इस क्षण में, इस चषक में, इस नाड़ी या घड़ी में मैंने यह क्रिया की, यह क्रिया मैं कर रहा हूँ और उस समय मैं वह काम कर लूँगा। यह सोचकर वह अपने कर्तृत्व की कलना करता है। उसका कर्त्तापन कार्य से अवच्छिन्न होता रहता है। वह परिमित प्रमाता होता है। अतः काल उसे अवश्य कलना का विषय बना लेता है।[3] काल रूपी कंचुक तुटि आदि समय

---

1. किञ्चित्तु कुरुते तस्मान्नूनमस्त्यपरं तु तत्।

   रागतत्त्वमिति प्रोक्तं यत्तत्रैवोपरञ्जकम्॥ **तन्त्रालोक** 9.199

2. रागोऽनुरञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि। **मालिनीविजयोत्तरतंत्र** 1.28

3. कालस्तुट्यादिभिश्चैतत् कर्तृत्वं कलयत्यतः।

   कार्यावच्छेदि कर्तृत्व कालोऽवश्यं कलियष्यति॥ **तन्त्रालोक** 9.201

के अवच्छेदों में अवस्थित रहता हुआ भाव-अभाव रूप व्यापार का आकलन करने कराने में समर्थ होता है।

नियति -

विशिष्ट कार्य व्यापार के समूहात्मक संभार में योजना का विधान करने वाले तत्त्व का नाम ही नियति है।[2] यही निमित्त है। इस कारण से यही कार्य करना है। इस प्रकार का नियम नियति ही निर्धारित करती है।

विद्या, राग, नियति, काल चारों तत्त्वों का कला तत्त्व ही कारण है। ये सभी कला के कार्य हैं।[3]

पुरुष -

माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति रूप 6 कंचुकों से कंचुकित एवं संकुचित रहने वाला परमप्रमाता शिव ही पुरुष कहलाता है।[4] यह पाशबद्ध हो जाता है इसलिये पशु कहलाता है। यही षट्कंचुक इसके पाश हैं। इसे अणु भी कहा जाता है। पुरुष के सम्बन्ध में **विमर्शिनी** में कहा गया है -

''कलाविद्यारागनियतिभिरोतप्रोतो माययापहृतैश्वर्यसर्वस्वः सन् पुनरपि प्रति-वितीर्णतत्सर्वस्वराशिमध्यगतभागमात्र एवंभूतोऽयं मितः प्रमाता भाति इदानीमिदं किंचिज्जानानः, इदं कुर्वाणोऽत्र रक्तः, अयमेव च यः सोऽहम्।''[5]

---

1. कालोऽपि कलयत्येनं तुट्यादिभिरवस्थितः। **मालिनीविजयोत्तरतन्त्र** 1.29
2. नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले। 9.202
3. विद्यारागोऽथ नियतिः कालश्चैतच्युतुष्टयम् कलाकार्यं। **तन्त्रालोक** 9.22, भाग 2, पृ. 508
4. माया कला रागविद्ये कालो नियतिरेव च।
   कञ्चुकानि षडुक्तानि संविदस्तत्स्थितौ पशुः॥ **तन्त्रालोक** 3.204
5. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** 3.1.9

अर्थात् कला, विद्या, काल, राग और नियति से ओतप्रोत होकर, जिसका ऐश्वर्य माया के द्वारा अपहृत हो जाता है अर्थात् समस्त ऐश्वर्य लूट जाने पर भी उसमें कुछ अंश को लेकर ऐसा ही परिमित प्रमाता के रूप में भासित होता हुआ मैं इस समय कुछ करता हुआ, मैं इस समय कुछ जानता हुआ संसक्त होकर इसी में जो कि मैं स्वयं हूँ। ऐसा अनुभवकर्त्ता पुरुष है।

प्रकृति -

सत्त्व, रज तथा तम का सुखदु:खमोहात्मक जो सामान्यरूप है, वही मूलकारण प्रकृति है। प्रकृति भोग्य, दृश्य या वेद्य है, जिसका सृजन कलातत्त्व से होता है।[1] **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** में कहा गया है कि - 'जो कार्यकारणात्मक तेईस प्रकार के प्रमेय तत्त्व हैं उनका सम्मिलितरूप एक प्रधान तत्त्व ही मूल कारण माना गया है। अत: प्रकृति प्रधान है वह सभी परवर्ती तत्त्वों का उपादान कारण है।'

बुद्धि तत्त्व -

बुद्धि तत्त्व तीन गुणों से उल्लसित होता है।[3] उल्लास काल में निर्मल ही होता है। इसमें गुणों से आठ गुना प्रकाश-नैर्मल्य होता है। इसी निर्मलता में दर्पणवत् सारा वेद्य प्रतिबिम्बित होता है। यह आत्मसंविद् की पुंबोध प्रकाशिका शक्ति है।[4] यह प्रथम अन्त:करण है, द्वितीय और तृतीय अन्त:करण क्रमश: अहंकार तथा मन है। बुद्धि को

---

1. वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं सूयते कला - **तन्त्रालोक** 9.214
2. त्रयोविंशतिधा मेयं यत्कार्यकरणात्मकम्।
   तस्याविभागरूप्येकं प्रधानं मूलकारणम्॥ **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** 13.1.10
3. अष्टगुणां तेभ्यो धियं। **मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्** 1.30
4. गुणेभ्यो बुद्धितत्त्वं तत् सर्वतो निर्मलं तत:।
   पुंस्प्रकाश: स वेद्योऽत्र प्रतिबिम्बत्वमार्छति॥ 9.227

निश्चयात्मिका भी माना कहा है।[1]

अहंकार -

अहंकार का कारण बुद्धि है। ग्राह्य (प्रमेय और प्रमाता) में अभिमान करना अहंकार का लक्षण माना गया है।[2] यह आत्मा में अहंताभिमान नहीं अपितु अनात्मरूपा बुद्धि में आत्म प्रतिबिम्ब का अभिमान है। अहंकार के दो स्कन्ध होते हैं - 1. करण स्कन्ध 2. प्रकृति स्कन्ध। करण स्कन्ध के कारण यह अन्त:करण कहलाता है। प्रकृति स्कन्ध तीन प्रकार का होता है -

1. **सात्त्विक** - इसमें सत्त्व प्रधान अहंकार मन एवं पंचज्ञानेन्द्रिय भासित होते हैं।

2. **राजस** - राजस में पंच कर्मेन्द्रियाँ भासित होती हैं।

3. **तामस** - इसमें पंच तन्मात्र भासित होते हैं।

मन -

मन अहंकार का उल्लास है। यह सत्त्वप्रधान होता है, संकल्प-विकल्प करना मन का धर्म है।[4] यह पुरुष की मननशक्ति है। यह मन आन्तर विषयों का ज्ञान स्वतंत्र रूप से तथा बाह्य विषयों का ज्ञान इन्द्रियों के सहयोग से करता है।

आगे के पन्द्रह तत्त्व अहंकार से उत्पन्न होते हैं। इनमें से पंच ज्ञानेन्द्रियाँ सत्त्व अहंकार से, पंच कर्मेन्द्रियाँ राजस् अहंकार से तथा पंच तन्मात्राएँ तामस अहंकार से उत्पन्न होते हैं।

---

1. बुद्धिरध्यवसायसामान्यमात्ररूपा। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, 3.1.11, पृ. 248

2. ग्राह्यग्राहकाभिमानरूपोऽहंकार:। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, 3.1.11, पृ. 278

3. इत्ययं करणस्कन्धोऽहंकारस्य निरूपित:।

   त्रिधास्य प्रकृतिस्कन्ध: सात्त्वराजसतामस:॥ **तन्त्रालोक** 9.223

4. संकल्पादिकारणं मन:। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, 3.1.11, पृ. 278

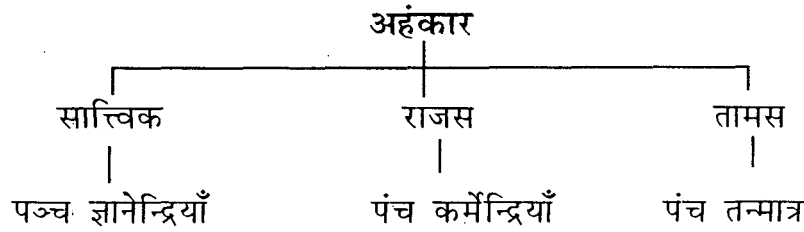

पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ - शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों के बोध के लिये श्रोत्र, त्वक्, आँख, रसना एवं घ्राण ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। उन्हें बुद्धीन्द्रिय भी कहते हैं।[1]

पञ्च कर्मेन्द्रियाँ - वचन, आदान, विरहण, विसर्ग एवं आनन्द की सामर्थ्य वाली वाक्, पाणि, पाद, वायु और उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ होती हैं।[2]

तन्मात्राएँ - इन्द्रियों का जो सूक्ष्म और विभागरहित ग्राह्य विषय है, वह पाँच तन्मात्राएँ हैं, शब्द, स्पर्श, तेज (रूप), रस गन्ध।[3]

पञ्चमहाभूत - पञ्च तन्मात्राओं के संसर्ग स्थूल विषय पाँच भूत होते हैं - आकाश, वायु तेज, जल तथा पृथिवी।[4]

इस प्रकार शैव दर्शन में कुल 36 तत्त्व हैं, जिस प्रकार वट बीज में, शक्ति रूप में बड़ा वटवृक्ष रहता है उसी प्रकार ये सभी तत्त्व, अर्थात् चराचर समस्त विश्व, परमशिव के हृदय रूपी बीज के अन्दर 'शक्ति' रूप में विद्यमान रहते हैं।

---

1. श्रोत्रं त्वगक्षि रसना घ्राणं बुद्धीन्द्रियाणि शब्दादौ। **परमार्थसार**, 20
2. वाक्पाणि-पाद-पायूपस्थं कर्मेन्द्रियाणि पुनः। वही
3. एषां ग्राह्यो विषयः सूक्ष्मः प्रविभाग वर्जितो यः स्यात्।
   तन्मात्रपञ्चकं तत् शब्दः स्पर्शो महो रसो गन्धः॥ वही, कारिका 21
4. एतत्संसर्गवशात् स्थूलो विषयस्तु भूतपञ्चकताम्।
   अभ्येति नमः पवनस्तेजः सलिलं च पृथ्वी च॥ वही, कारिका 22

सृष्टि का व्युत्क्रम -

सृष्टि का व्युत्क्रम साधक केन्द्रित है। उपायादि के द्वारा साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है, अन्ततः परमसूक्ष्म अवस्था को प्राप्त कर परम शिवमय हो जाता है। इसे निमेष भी कहा जाता है। इसी अवस्था को बन्धनमुक्त अथवा मोक्षावस्था भी कहा गया है, जो परमशिव की ही एक लीला है।[1]

सृष्टि के व्युत्क्रम में 'पृथिवी तत्त्व' से प्रकृति पर्यन्त सांख्य दर्शन के समान ही विचार किया गया है। प्रकृति विशुद्ध होकर 'माया तत्त्व' में लीन हो जाती है। माया के पञ्चकञ्चुक परमशिव की शक्तियों को संकुचित कर देते हैं। परमशिव का शक्ति संकोच पुरुष रूप में होता है। पञ्चकञ्चुक से परे साधक पुरुष सूक्ष्मतर तत्त्व में प्रवेश करने लगता है। तब 'अहमिदं' भाव जागृत होता है। इसमें 'अहम्' चैतन्य एवं 'इदम्' प्रकृति है। इस अवस्था में अहम् एवं इदम् की समान प्रतीति होती है। इसे सद्विद्या कहा गया है। तदनन्तर इदमहम् की प्रतीति होती है, जिसमें इदम् अंश का प्राधान्य होता है। इस अवस्था को ईश्वर तत्त्व कहते हैं, ईश्वर तत्त्व के पश्चात् सदाशिव तत्त्व में अहम् प्राधान्य के साथ अहमिदम् की प्रतीति होती है, धीरे-धीरे इदम् अंश अहं में पूर्णतः लीन हो जाता है, जिससे 'अहमस्मि' का बोध होता है, इस अवस्था को शक्ति तत्त्व कहा जाता है। यही साधक की आनन्दानुभूति है। यही हृदय है। अन्तिम तत्त्व शिव है, जिसमें 'अहम्' शेष रहता है। यह प्रकाशावस्था ही चिन्मय है।

शिव और शक्ति सामस्यावस्था को ही परमशिव कहा गया है साधक के लिये यही जीवन्मुक्ति है, जिसमें वह चिदानन्द लाभ करता है। यही सृष्टि का व्युत्क्रम है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार अपरिमित स्वातन्त्र्यसम्पन्न, अनुत्तर सत्ता, अपनी कर्तृत्त्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्त्व, नित्यत्त्व और सर्वव्यापकत्त्व आदि स्वतंत्र शक्तियों को अपनी माया से उत्पन्न कला, विद्या, राग, काल और नियति इन पाँचों से क्रमशः आवृत्त कर

---

1. स्वज्ञानविभवंभासनयोगेनोद्वेष्टयेन्निजात्मानम्।

इति बन्धमोक्षचित्रां क्रीड़ां प्रतनोति परमशिवः॥ **परमार्थसार**, 33

पाशबद्ध पशु के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। यही उसका बन्धन है, इसे शैवागम मल कहा गया है। इसी के निवारणार्थ प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में चार उपायों का विस्तृत विवेचन किया गया है, जो निम्नलिखित है -

1. अनुपाय -

अनुपाय शब्द 'न उपाय' इस व्युत्पत्ति विग्रह के अनुसार नञ् तत्पुरुष समास से निष्पन्न है। सिद्धान्तकौमुदी में नञर्थ में 6 प्रकार गिनाए गये हैं - 1. तत्सादृश्य 2. अभाव 3. तदन्यत्व 4. तदल्पत्व 5. अप्राशस्त्य और 6. विरोध।[1]

किन्तु इन 6 प्रकारों में चतुर्थ प्रकार अर्थात् तदल्पत्व अर्थ में ही अनुपाय शब्द में नञ् समास का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार अनुपाय से तात्पर्य 'परमेश्वर में समावेश प्राप्ति के लिए अत्यल्प उपाय की आवश्यकता ही अनुपाय है। अनुपाय की स्थिति में किसी ऐसे उपाय का अभाव है जो परिश्रम साध्य हो। यह वह मार्ग है जिसमें विश्वात्मा की प्राप्ति के लिये विचार-परम्परा की भी आवश्यकता नहीं रहती।'[2] यह वस्तुतः आत्म प्रत्यभिज्ञा की ही अवस्था है जिसमें एक ही बार शास्त्रों के प्रमाण से या गुरु के वाक्य से शिवत्त्व का ज्ञान तथा उसमें दृढ़ प्रतिपत्ति हो जाती है।[3] यह संस्कार

---

1. तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
   अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्था षट् प्रकीर्त्तिता॥ **सिद्धान्तकौमुदी** 6-7
2. यदा खलु दृढशक्तिपातावि्द्धः स्वयमेव इत्थं विवेचयति सकृदेव गुरुवचनम् अवधार्य, तदा पुनरुपाय विरहितो नित्योदित अस्य समावेशः। **तन्त्रसार**, आ. 2. पृ. 29
3. सकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावना करणं व्रजेत्।
   एकबारं प्रमाणेन वा शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः।
   ज्ञाते शिवत्वे सर्वत्थे प्रतित्त्या दृढात्मना।
   करणेन नास्ति कृत्यं नापि भावनयाऽपि वा॥ **तन्त्रालोक** 2.40
4. उपायर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः।
   स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपकः॥
   इत्याकर्ण्य गुरुर्वाक्यं सकृत केचन निश्चिताः।
   बिना भूयोऽनुसंधानं भान्ति संविन्मयाः स्थिताः॥ **तन्त्रालोक** आ. 2

साधक में दिन-रात अनवरत चलता रहता है।[4] परिणामस्वरूप साधक पाशरहित एवं जीवन्मुक्त हो जाता है और सदैव परमशिव के आनन्द में डूबा रहता है। इसीलिये इसे 'आनन्दयोग' भी कहते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने शिव को प्रकाशित करने के लिये अनुपाययोग की महत्ता को स्वीकार करते हुए अन्य सभी उपायों को इसकी तुलना में तुच्छ माना है।[1]

शाम्भव उपाय -

इस उपाय के अन्तर्गत इच्छाशक्ति के द्वारा परम तत्त्व का ज्ञान किया जाता है।[2] अतएव इसे इच्छोपाय भी कहते हैं। इसमें चित्त को मानसिक व्यापारों से शान्त करके उसकी स्थिरता के लिये प्रयास किया जाता है। इसमें प्रमाता की स्थिति निर्विकल्पक होती है। इसमें शरीर, मन, बुद्धि और प्राण की सहायता अनपेक्षित होती है। यहाँ साधक अपने चित्त को किसी भी प्रकार के चिन्तन से रोककर एकाग्र करने का अभ्यास करता है। जिसमें वह विकासोन्मुखी तुर्य और तुर्यातीत दशा में समावेश प्राप्त कर लेता है। यह दशा विकल्पशून्यता है और इसी से ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** में भी विकल्प की हानि के पश्चात् एकाग्रता के कारण ईश्वरप्राप्ति को स्वीकृत किया गया है।[3] निर्विकल्पक भावयुत योगी को जो भवगदादेश होता है वही शाम्भवोपाय है।[4] शाम्भवोपाय की उत्कृष्ट अवस्था ही अनुपाय कही जाती है। अभेद की दृष्टि का उद्रेक करने में सहायक होने के कारण इसे अभेदोपाय भी कहा गया है।

---

1. उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद् घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।
   विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः स्वयं प्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात्॥ **तन्त्रसार**, आ. 2, पृ. 39
2. अकिंचिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधितः।
   उत्पद्यते य आवेश शाम्भवोऽयमुदीरितः॥ **तन्त्रालोक** 1.168
3. विकल्पहानेनैकाग्र्यात् - क्रमेणेश्वरतापदम्। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** 4.1.11
4. स (शाम्भवोपायः) एव पराकाष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते। **तन्त्रालोक** आ. 1

शाक्त उपाय -

इसे शाक्त योग, ज्ञानोपाय, भावनोपाय, भेदाभेद उपाय भी कहा जाता है। इस उपाय में साधक को अशुद्ध विकल्पों के परिष्कार के लिए सतत् अभ्यास कराया जाता है। अशुद्ध विकल्पों द्वारा प्राणी शरीरादि अनात्म तत्त्व में आत्म तत्त्व को समझता रहता है।[1] विकल्प के कारण ही जीव अपने आपको बद्ध मानता है। यही अभिमान संसार के प्रतिबन्ध का कारण है, किन्तु शाक्तोपाय की स्थिति में साधक के अशुद्ध-विकल्पों का शोधन होता है।[2] जिससे साधक को सर्वत्र स्वात्मस्वरूप का ही दर्शन होने लगता है। शाक्तोपाय से शरीर का बन्धन, अहंभाव, रागद्वेषादि भाव तथा अशुद्ध विकल्पों का क्षय होता है। शाक्तोपाय के द्वारा ही यह भावना आती है कि मैं परमशिव ही हूँ और सब कुछ मेरी अभिव्यक्ति है।[3]

आणवोपाय -

इसमें बाह्य साधनों का उपयोग होता है। अतः इस उपाय को क्रियोपाय कहते हैं। इसे भेदोपाय भी कहा जाता है। प्राणादि पंचप्रवाहों द्वारा उच्चार से, मुद्रा से, ध्वन्याभ्यास से तथा कदलीसम्पुटाकार की तरह हृदयादि देश में धारण से जो समावेश साधक को होता है, उसे आणवोपाय कहते हैं।[4] अणु अर्थात् जीवात्मा परिमित स्वरूप वाले बुद्धि, प्राण, देह, देश आदि को उपाय के रूप में स्वीकार करता है, इसीलिये 'आणव उपाय' कहा जाता है।

---

1. तिमिरादपि तिमिरमिदं गण्डस्योपरि महालयं स्फोटः।
   यदनात्मन्यपि देहप्राणादावात्ममानित्वम्॥ **परमार्थसार,** 31
2. विकल्पबलात् एव जन्तवः बद्धम् आत्मानम् अभिमन्यन्ते, स अभिमानः संसारप्रतिबन्धहेतुः, अतः प्रतिद्वन्द्विरूपो विकल्प उदितः संसारहेतुं विकल्पं दलयति इति अभ्युदय हेतुः। **तन्त्रसार,** आ. पृ. 91
3. भूयो भूयो विकल्पांशनिश्चयक्रमचर्चनात्।
   यत्परामर्शमिक्ष्येति ज्ञानोपायं तु तद्विदुः॥ **तन्त्रालोक** 1.148
4. उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।
   यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते॥ **मालिनीविजयोत्तरतन्त्र**, 2.22

शैवदर्शन प्रमातावादी दर्शन है। इसमें प्रमाता के विभिन्न स्वरूप बताये गये हैं। संसार का प्रत्येक व्यक्ति अपनी अन्तःचेतना के अनुपात से इनमें से किसी न किसी प्रमातृभाव पर अवस्थित होता है। प्रत्येक प्रकार के प्रमाताओं के अपने भुवन हैं, जहाँ वे निवास करते हैं। उदाहरणार्थ सकल-प्रमाताओं में सारे भौम जीव निकास (चौरासी लाख प्रकार के) अन्तर्भूत हैं। उनके लिये उपयुक्त भुवन पृथिवी भुवन है। यही स्थिति अन्य प्रमाताओं (प्रलयाकलादि) के विषय में है। इन प्रमाताओं को सात प्रकारों उपस्थापित किया गया है। इनमें वेद्यताभाव होता है।[1]

1. सकल प्रमाता -

सकल प्रमाता में आणव, कार्म एवं मायीय तीनों मल होते हैं। ये प्रमाता ऐसे पशुभाव में पड़े हुए होते हैं जो मायादि छः कंचुकों से आवृत्त होकर प्रतिसमय सांसारिक आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं। सकल प्रमाता का प्रमाणांश विद्याकलात्मक होता है। यह सामान्य होता है।[2] सकल प्रमाता में इदं भाव का पूर्ण प्राधान्य एवं शिवमय भाव से भेदावभास बना रहता है। कला तत्त्व के प्राधान्य के कारण इसको सकल प्रमाता कहा जाता है। इसका स्वरूप अल्पकर्तृत्व, अल्पज्ञातृत्व, अतृप्त, अनित्य और अव्यापक होता है। संसार के सभी प्राणियों में प्रायः यही प्रमातृभाव होता है।

2. प्रलयाकल -

प्रलयाकल प्रमाता कार्ममल से मुक्त होता है। मायीय एवं आणव दो मलों

---

1. सकलादि शिवान्तैस्तु मातृभिर्वेद्यतास्य या।

   शक्तिमद्भिरनुद्भूतशक्तिभिः सप्त तद्भिदः॥ **तन्त्रालोक**, भाग चार, 10.10-11, पृ.1. 11

2. सकलस्य प्रमाणांशो योऽसौ विद्याकलात्मकः।

   सामान्यात्मा स शक्तित्वे गणितो न तु तद्भिदः॥ वही, 10.12-13, पृ. 12

का उसमें समावेश होता है।[1] इसका प्रमाणांश भी विद्याकलात्मा होता है। सकल की तुलना में इसमें विशेषता यह होती है कि विद्याकलात्मक मानांश इस स्तर पर परम स्फुटरूप से भासित होता है।[2] तन्त्रालोक में प्रलयाकलता की प्रतीक सर्पिणी को माना गया है।[3] सर्पिणी तो स्फुट है किन्तु सोई हुई है। यही अन्तर होता है, अर्थात् विद्या और कला का अस्तित्त्व होते हुए वे सोई रहती हैं। तीन मल रहने पर भी सकल इससे अच्छा है।

3. विज्ञानाकल प्रमाता -

विज्ञानाकल ऐसा प्रमाता होता है जिसने साधना के बल से अपने में मायीय एवं कार्म इन दो मतों का अपक्षय तो किया होता है किन्तु आणवमल अभी इसमें वर्तमान होता है। अर्थात् उनका रूप बोधमय तो होता है किन्तु स्वतन्त्र क्रियाशक्ति अभी इसमें अवसुप्त ही होती है। परिणामतः प्रमाता इस रूप में विकलांग होने के कारण पूर्ण शिवभाव पर आरूढ़ नहीं होता है।[4]

4. शुद्ध विद्या/मन्त्र प्रमाता -

मन्त्र स्तर के प्रमाता में शुद्ध विद्या अभी प्रबुद्ध नहीं होती। वह प्रबुभुत्सु प्रमाता होता है।[5] इस प्रमातृभाव में अहं भाव एवं इदं भाव समानाधिकरण्य होते हैं।[6]

---

1. शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्त्तारः प्रलयाकलाः।

   तेषाम् कार्मोमलोऽभ्यस्ति मायीयस्तु विकल्पितः॥ **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** 3.2.8

2. लयाकलस्य मानांशः स एव परमस्फुटः। तन्त्रालोक, भाग चार, 10.13, पृ. 12

3. स एवेति विद्याकलात्मकः, परमस्फुट इति इयान्विरेष, स हि प्रसुप्तभुजगप्राय इत्यभिप्रायः॥ वही

4. तत्र विज्ञानकेवलो मलैकयुक्तः - इत्यादौ विज्ञानं बोधात्मकं रूपं केवल स्वातन्त्र्य विरहित मेषामिति॥

   - **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** 3.2.7

5. प्रबुभुत्सुः शुद्धविद्या मन्त्राणां करणं भवेत्।

   प्रबुद्धा शुद्धविद्या तु तत्संस्कारेण संगता॥ **तन्त्रालोक** 10.15

6. समानाधिकरण्यञ्च सद्विद्याहमिदं धियोः॥ **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** 3.1.3

5. ईश्वर/मन्त्रेश्वर प्रमाता -

मन्त्रेश्वर प्रमाता में शुद्धविद्या प्रबुद्ध हो जाती है, बोध का औन्मुख्य इसमें संस्कारत: उल्लसित हो जाता है, इस प्रमातृ भाव में इदं भाव की अधिक उन्मुखता होती है।

6. सदाशिव/मन्महेश्वर प्रमाता -

इसमें बुभुत्सा आदि के संस्कार पूर्णत: समाप्त हो जाते हैं, शुद्धविद्या पूर्ण रूप से प्रकाशमान हो जाती है।[1] इस प्रमातृ भाव में अहं भाव की ओर अधिक औन्मुख्य होता है।[2]

7. शिव प्रमाता -

मन्त्र महेश्वर से उच्चदशा 'शिव' स्तर की होती है। शिवसद्भाव में ऐश्वरी इच्छा शक्ति ही करण होती है। यह शक्ति स्वातन्त्र्यमयी होती है। स्वातन्त्र्य के उल्लास से वह शाश्वत प्रतिष्ठित रहती है। उसी की प्रेरणा से शिव के वेत्तृत्व और कर्त्तृत्व दोनों सम्पन्न होते हैं।[3] शिव प्रमाता की स्थिति सर्वातीत एवं समरसमय परिपूर्ण अहं भाव (परमशिवदशा) की स्थिति होती है। इसमें प्रमाता को चिदानन्द लाभ होता है। यहाँ पर इदं भाव का कहीं नामोनिशान भी नहीं होता है।

इसप्रकार हृदय एवं सहृदय की अवधारणा को समझने हेतु दोनों में अन्त:सम्बन्ध पर प्रकाश डालने हेतु प्रत्यभिज्ञा दर्शन का विवेचन अत्यन्त आवश्यक था, क्योंकि 'हृदय' मूलत: शिवाद्वयवाद का पारिभाषिक शब्द है। जो सहृदय की अवधारणा का प्रमुख आधार भी है। इसके अतिरिक्त आचार्य अभिनवगुप्त ने सहृदय स्वरूप विश्लेषण में कई अन्य प्रत्यभिज्ञागम सम्मत पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, जिन्हें कश्मीर शैवदर्शन के सैद्धान्तिक अध्ययन के बिना समझना मुश्किल है।

---

1. मानं मन्त्रेश्वराणां स्यात्तत्संस्कार विवर्जिता। **तन्त्रालोक** 10.16
2. ईश्वरो वहिरून्मेषो। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा,** 3.1.3
3. निमेषोऽन्त: सदाशिव:। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा,** 3.1.3
4. स्वातन्त्र्यमात्रसद्भावा यात्विच्छाशक्ति वैखरी।
   शिवस्य सैवकरणं तया वेत्ति करोति च॥ **तन्त्रालोक** 10.17

साहित्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र : स्रोत एवं अन्तःसम्बन्ध

भारतीय चिन्तन परम्परा का क्षेत्र बहुत व्यापक रहा है। मानव जीवन के दृश्य एवं दृश्येतर लगभग सभी विषयों को इस परम्परा में लक्षित किया गया है। किन्तु इन विषयों के आधिक्य से उत्पन्न सम्भावित अव्यवस्था से बचने के लिए इनमें अद्‌भुत सामंजस्य का समायोजन भी किया गया है। भारतीय चिन्तन परम्परा का सम्पूर्ण वाङ्मय वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शनशास्त्र, साहित्यशास्त्र आदि विधाओं के रूप में परिलक्षित होता है। सुनने व पढ़ने से ये सभी शास्त्र पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं किन्तु परोक्षत: इन सभी में परस्पर अन्त:सम्बन्ध है। सभी को अपने विकास हेतु एक-दूसरे का आश्रय प्राप्त है और वैसे भी संसार में किसी भी वस्तु की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानी जा सकती है। सभी वस्तुओं का परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्ध है। सांख्य में बिना पुरुष के प्रकृति तथा प्रकृति के बिना पुरुष का अस्तित्त्व नहीं है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी ठीक ऐसी स्थिति परिलक्षित होती है।

'न शिव: शक्ति रहिता न शक्ति शिव वर्जिता।'[1]

संस्कृत वाङ्मय में भी प्रत्येक शास्त्र का किसी न किसी शास्त्र से सम्बन्ध अवश्य रहता है साहित्यशास्त्र व दर्शनशास्त्र का भी पारस्परिक सम्बन्ध है। भारतीय चिन्तन में साहित्य शब्द का व्यापक अर्थ है। इसका तात्पर्य सम्पूर्ण वाङ्मय से है। इस साहित्य की एक विस्तृत परम्परा रही है। इस परम्परा में साहित्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है -

1. लक्ष्य ग्रन्थों की परम्परा 2. लक्षण ग्रन्थों की परम्परा।

लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर ही लक्षण ग्रन्थों की परम्परा को शुरुआत हुई। लक्षण ग्रन्थों को ही शास्त्र कहा जाता है। पहले काव्यों, महाकाव्यों की रचना हुई, उन्हीं

---

1. **तन्त्रालोक**, 3.68

के आधार पर शास्त्रों का निर्माण किया गया। ऐसा नहीं है कि शास्त्रों की परिसीमा में लक्ष्य ग्रन्थों की रचना हुई। इन लक्ष्य ग्रन्थों में हुये प्रयोगों व वर्णित विषयों के आधार एक निश्चित अवधारणा विकसित हुई और शास्त्र का विकास हुआ। कहने का तात्पर्य कि शास्त्र पढ़ने व सुनने में तो पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं किन्तु इन सबका आधार तो एक ही है। रामायण, महाभारत आदि लक्ष्य काव्यशास्त्र के आधारग्रन्थ हैं तो दार्शनिक विषयों के प्रतिपादन से दर्शनशास्त्र का भी आधार हैं। चूँकि दोनों शास्त्रों का आधार एक है। अत: स्वाभाविक है कि दोनों शास्त्रों में कोई न कोई अन्त: सम्बन्ध अवश्य ही होगा। आचार्य भर्तृहरि ने तो शास्त्रों के अन्त:सम्बन्ध को स्पष्टत: स्वीकार किया है।[1]

दर्शनशास्त्र एवं काव्यशास्त्र के अन्त:सम्बन्ध के विषय में एस. के. डे का कहना है कि - 'अन्त: साक्ष्य और काव्यशास्त्र के कुछ निर्भ्रान्त प्राचीन विद्वानों के प्रमाण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे एक सीमा तक साहित्यशास्त्र की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि भाषाशास्त्रीय दार्शनिक परिकल्पनाओं पर आधारित थी।'[2] उपर्युक्त कथन स्पष्ट करता है कि साहित्यशास्त्र व्याकरणशास्त्र से सम्बद्ध है। प्रमुख काव्यशास्त्री आनन्दवर्द्धन ने अपने सिद्धान्त को वैयाकरणों के प्रामाण्य पर आधारित बताते हुये अग्रणी और मूर्धन्य विद्वानों के रूप में उनकी प्रशंसा की।

''प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा:।
व्याकरण मूलत्वात् सर्वविधानाम्॥''[3]

आनन्दवर्द्धन का मत है कि वैयाकरण भाषिक ध्वनि का व्यवहार करते हैं। काव्यशास्त्रियों ने भी उन्हीं के मत का अनुसरण करते हुए वाच्य अर्थ, वाचक शब्द, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द तथा व्यञ्जना व्यापार इन सभी के लिये ध्वनि पद का व्यवहार किया है।[4]

---

1. **संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास**, भूमिका
2. **ध्वन्यालोक,** कारिका 13 की वृत्ति
3. ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैकान्यैस्तन्मतानुसरिभि: काव्यतत्त्वार्थ दर्शिभिर्वाच्यवाचक सम्मिश्र: शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेशो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्त:॥ वही
4. भेदानां बहुमार्गत्त्वं कर्मण्येकत्र चाङ्गता।
   शब्दानां यतशक्तित्वं तस्य शाखासु दृश्यते॥ **वाक्यपदीय,** 1.6

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी आनन्दवर्द्धन के इस कथन का समर्थन किया। उनके अनुसार ध्वनि पद का व्यवहार करने में काव्यशास्त्रियों ने वैयाकरणों का अनुसरण किया है। वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोट रूप व्यङ्ग्य के व्यञ्जक शब्द को ध्वनि कहा था। इसका अनुकरण करके काव्यशास्त्रियों ने वाच्य अर्थ को अभिभूत करने वाले व्यङ्ग्य अर्थ के व्यञ्जक शब्दार्थ युगल ध्वनि कहा है।[1]

साहित्यशास्त्र एवं न्यायदर्शन -

ध्वनि एवं व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने न्यायदर्शन की पृष्ठभूमि में सम्पूर्ण साहित्यिक तत्त्वों को परिभाषित किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन कर ध्वनि को अनुमान में ही समाहित किया है। ग्रन्थ के आरम्भ में वे लिखते हैं -

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।

व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा गिरां सारम्॥[2]

अर्थात् समस्त ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव प्रकाशित करने के लिये महिमभट्ट वाणी के सार को प्रणाम करके **व्यक्तिविवेक** की रचना कर रहे हैं।

किसी वस्तु को देखकर किसी ऐसी दूसरी वस्तु को जान लेना जिसका दृष्ट वस्तु के साथ अनिवार्य साहचर्य ही अनुमिति कहलाता है। जिस वस्तु को देखकर अनुमान लगाया जाता है, उसे हेतु की संज्ञा दी जाती है। जिस अदृष्ट वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसे साध्य या लिङ्गी कहा जाता है। जिस स्थान पर हेतु के दर्शन होते

---

1. बुधैः वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य॥ **काव्यप्रकाश** 1.4 की वृत्ति।
2. **व्यक्तिविवेक**, 1.1

हैं उसे पक्ष या धर्मी की संज्ञा दी जाती है क्यों कि वहाँ पर हेतु रूप धर्म विद्यमान रहता है। अनेकश: दो वस्तुओं को एक साथ देखने से उनके साहचर्य की अनिवार्यता का ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान व्याप्ति ज्ञान कहलाता है। व्याप्ति ज्ञान को ही पारिभाषित रूप में अनुमान की संज्ञा दी जाती है। यह व्याप्ति ज्ञान ही साध्य के ज्ञान का प्रमुख कारण है। अनुमान प्रक्रिया में हेतु का तीन स्थानों पर विचार किया जाता है-

1. पक्ष - जिसमें हेतु दृष्टिगत होता है।

2. सपक्ष - जिसमें निश्चित रूप से हेतु विद्यमान रहता है और जिसे बार-बार देखकर व्याप्ति का ज्ञान प्राप्त होता है।

3. विपक्ष - जिसमें निश्चित रूप से हेतु विद्यमान नहीं रहता। त्रिरूपलिङ्ग कहा जाता है। अनुमान की उपर्युक्त प्रक्रिया में व्यञ्जना का अनुमान में अन्तर्भाव किया गया है।

उनके अनुसार - "वाच्य से असम्बद्ध अर्थ तो प्रतीत नहीं होता है क्योंकि (यदि वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति हो तो) जिस किसी शब्द से जो कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। इस प्रकार (व्यंग्य और व्यञ्जकता) सम्बन्ध अनिवार्य होने से व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव (प्रतिबन्ध अर्थात् व्याप्ति के बिना निश्चय नहीं हो सकता है। इसलिये व्याप्ति युक्त और नियतधर्मी अर्थात् पक्ष) में रहने से (अर्थात् व्याप्ति तथा पक्षधर्मतायुक्त होने से पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तरूप) तीन रूपों वाले (धूमादि रूप हेतु के समान) लिङ्ग से लिङ्गी (अर्थात् वह्नि आदि के समान साध्य) का जो अनुमान उसी रूप में (व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव का भी) पर्यवसान होता है।"[1]

---

1. ननु वाच्यादसम्बद्धं तावत्न प्रतीयते, यत: कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीते: प्रसङ्गात्। एवं च सम्बन्धाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जक भावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति व्याप्तत्वेन नियत धर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्गा-ल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत् तद्रूप: पर्यवस्यति। **काव्यप्रकाश**, पंचम उल्लास, पृ. 258

अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि हेतु महिमभट्ट ध्वनिकार के प्रसिद्ध उदाहरण में ही अनुमान का परिलक्षण करते हैं -

भ्रमः धार्मिक विश्वस्तः स शुनकोऽद्यमारितस्तेन।

गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥

प्रस्तुत श्लोक में व्यंजना के माध्यम भ्रमण निषेध अर्थ का बोध होता है, जिसे महिमभट्ट अनुमितिगम्य सिद्ध करते हैं -

- गोदावरीतीरं भीरूभ्रमणायोग्यं
- भयकारण सिंहोपलब्धेः
- यद्यत् भीरूभ्रमणयोग्यं तत्तदभयकारणाभावात् यथा गृहम्
- न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत् सिंहोपलब्धे
- तस्मात् भीरूभ्रमणायोग्यम्।

इस प्रकार अनुमान प्रक्रिया के द्वारा महिमभट्ट भ्रमण निषेध को सिद्ध करते हैं और ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन करते हैं।

यद्यपि आचार्य मम्मट[1] विश्वनाथ आदि ने महिमभट्ट के तर्कों को खण्डित कर ध्वनि सिद्धान्त की श्रेष्ठता को पुनः स्थापित किया है।

न्यायशास्त्र में शब्दार्थ शक्ति के लिये अभिधा का विवेचन किया गया है। **अभिधावृत्तिमातृका, शब्द व्यापार विचार त्रिवेणिका वृत्तिवर्त्तिक** आदि काव्यशास्त्रीय

---

1. भीरूरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियानुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः। शुनो बिम्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि। गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः अपि तु वचनात्। न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च। तत्कथमेवं विधाद्धेतोः साध्यसिद्धः। **काव्यप्रकाश,** पंचम उल्लास, पृ. 261

ग्रन्थों में न्यायशास्त्र सम्मत विवेचन के आधार विषय विवेचन किया गया है।

साहित्यशास्त्र में वर्णित अनेकों अलंकारों का विकास अनुमान के आधार परिलक्षित होता है। अनुमान को स्वयं भी अलंकार माना गया है। काव्यप्रकाश में साध्य और साधन के कथन को अनुमान अलंकार[1] कहा गया है।

अनुमान अलंकार का यह लक्षण नैयायिकों के अनुमान के आधार पर ही किया गया है क्योंकि साध्य एवं साधन दोनों शब्द न्याय शब्दावली के हैं। उनको न्याय शब्दावली के अनुसार स्पष्ट भी किया गया है।

पक्षधर्मत्व (पक्षसत्त्व), अन्वयित्व (सपक्षसत्त्व) तथा व्यतिरेकत्व (विपक्ष व्यावृत्तत्व) रूप से तीन धर्मों से युक्त त्रिरूप हेतु साधन कहलाता है और (धर्मी अर्थात्) पक्ष में व्यापक (अर्थात् वह्नि आदि) के अभाव का निषेध अयोगव्यच्छेद (अर्थात् अभाव का अभाव अर्थात् अवश्य सत्ता ही उसका) साध्यत्व है।[2]

इसके अतिरिक्त हेतु, काव्यलिङ्ग आदि अलंकारों की उद्भावना में अनुमान का आश्रय लिया गया है। अप्पय दीक्षित ने प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का भी अपने ग्रन्थ **कुवलयानन्द** में अलंकार रूप में प्रयोग किया है।

साहित्यशास्त्र एवं मीमांसा दर्शन -

साहित्यशास्त्र और मीमांसा दर्शन के समानान्तर भी साहित्यशास्त्रियों ने विचार किया है। ध्वनिवादी आचार्यों ने अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीन प्रकार की शब्द शक्तियाँ और वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थ स्वीकार किये हैं। किन्तु मीमांसक व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नहीं करते इनमें अभिहितान्वयवादी आचार्यों के

1. अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः। **काव्यप्रकाश** 10.117

2. पक्षधर्मान्वय व्यतिरेकित्वेन त्रिरूपो हेतुः साधनम्। धर्मिणि अयोगव्यवच्छेदो व्यापकस्य साध्यत्वम्। **काव्यप्रकाश,** उल्लास 10, पृ. 522

अनुसार वाक्यार्थ के बोध के लिये तात्पर्या वृत्ति आवश्यक हैं। इनके अनुसार ''वाक्य में प्रत्येक पद से केवल उस पद का ही अर्थ बोधित होता है, परन्तु वाक्य का अर्थ पदों के अर्थों के अन्वय करने पर ही बोधित होगा। पदों का अन्वय तात्पर्या वृत्ति से होता है।''[1] इसके विपरीत प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार वाच्य को वाच्यार्थ माना गया है।[2] इनका मत अन्विताभिधानवाद है। आचार्य मम्मट ने **काव्यप्रकाश** में दोनों मतों का उल्लेख किया है।[3] तात्पर्यार्थ प्रतिपादन हेतु तात्पर्यावृत्ति को मानने वाले अभिहितान्वयवाद को विश्वनाथ ने भी **साहित्यदर्पण** में उल्लिखित किया है।[4]

संकेतग्रह के विषय में साहित्यशास्त्र में मीमांसासम्मत उल्लेख मिलता है। संकेत ग्रहण के पक्ष आचार्य मम्मट ने दो पक्ष प्रस्तुत किये हैं। प्रथम पक्ष वैयाकरणों का है जो कि संकेत के ग्रहण जात्यादि (जाति, गुण क्रिया और संज्ञा) में मानते हैं।

दूसरा पक्ष मीमांसकों का है, जो संकेत का ग्रहण जाति में ही मानते हैं, इनके मत का निदर्शन करने में मम्मट ने गुण, क्रिया और संज्ञा को भी जाति रूप सिद्ध किया है।[5]

---

1. आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद वक्ष्यमाणस्वरूपाणाम् पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसीति अभिहितान्वयवादिनां मतम्। **काव्यप्रकाश,** द्वितीय उल्लास, पृ. 36
2. वाच्य एव वाक्यार्थ इति अन्विताभिधानवादिनः। **काव्यप्रकाश,** द्वितीय उल्लास, पृ. 37
3. तात्पर्यार्थोऽपिकेषुचित्। **काव्यप्रकाश** 2.6
4. तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थावयबोधने।
   तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे॥ **साहित्यदर्पण** 2.20
5. गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामपि भेद इव लक्ष्यते। यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बन-भेदात्। हिमपयः शङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इति अभिन्नाभिधान-प्रत्ययोत्पत्तिस्तत् शुक्लत्वादि सामान्यम्। गुडतण्डुलपाकादिषु एवमेव पाकत्वादि। बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये। **काव्यप्रकाश** 2.10 की वृत्ति, पृ. 48

लक्षणा शब्द शक्ति के गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना लक्षणाओं के 'गौर्वाहीकः' तथा 'गौरयम्' उदाहरणों में गोगत गुण बाहीक किस प्रकार लक्षित होते हैं। इस विवेचना में आचार्य मम्मट मीमांसक मत[1] अधिक विस्तार से उद्धृत करते हैं। जिसके विषय में आचार्य विश्वेश्वर द्वारा कहा गया है। इस विषय में मुकुलभट्ट का मत मम्मट को अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसलिये वे उसके समर्थन में **'श्लोकवार्त्तिक'** से अगली कारिका उद्धृत करते हैं।[2]

मीमांसक ने भी नैयायिकों के समान व्यंजना वृत्ति को स्वीकार नहीं किया है। व्यंजनावादियों के व्यंग्यार्थ को इन्होंने अभिधावृत्ति द्वारा प्रतिपाद्य माना है। ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा मीमांसकों के अभिधावादी मत का प्रखरता से खण्डन किया गया है। **काव्यप्रकाश** में व्यंजनावृत्ति की स्थापना में मम्मट ने विभिन्न युक्तियों[3] अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते, इषोरिव दीर्घदीर्घतरो, व्यापारः, यत्परः शब्दः स शब्दार्थः लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति, श्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापार आदि को पूर्वपक्ष रूप में उनका खण्डन कर व्यंजना वृतित की काव्य में अनिवार्यता को प्रतिपादित किया है।

इस प्रकार मीमांसा सम्बद्ध उपर्युक्त विषय पूर्वपक्ष रूप में साहित्यशास्त्र के विषय रहे हैं। लक्षणा द्वारा प्रतिपादित लक्ष्य अर्थ तथा उसके प्रयोजन की भिन्नता को स्पष्ट करने हेतु साहित्यशास्त्रियों द्वारा मीमांसा सम्मत प्रमाणों से सिद्ध किया गया है। जिस प्रकार मीमांसक ज्ञातता सिद्धान्त के अन्तर्गत ज्ञान के विषय तथा ज्ञान के फल को

---

1. स्वार्थ सहचारिगुणाभेदेन परार्थगतागुणा एव लक्ष्यन्ते न पदार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे। - **काव्यप्रकाश** 2.16 की वृत्ति

2. अभिधेयाबिनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।

   लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥ **काव्यप्रकाश** 2.16

3. **काव्यप्रकाश,** पंचम उल्लास

पृथक्-पृथक् मानते हैं, उसी प्रकार साहित्यशास्त्री लक्षणाजन्य (लक्ष्यार्थ) और फल (प्रयोजन) को भिन्न-भिन्न मानते हैं।[1]

साहित्यशास्त्र एवं वेदान्तदर्शन -

ध्वनिवादी आचार्यों ने रस, आनन्द और आत्मा को सामान्यत: एक जैसा कहा है। **'तैत्तिरीय उपनिषद्'** की ब्रह्मानन्द वल्ली में आत्मा को रस कहा गया है। जिससे वह आनन्दरूप है।[2] रस स्वरूप विवेचन के अन्तर्गत पण्डितराज जगन्नाथ ने **तैत्तिरीय उपनिषद्** के इसी उद्धरण को उद्धृत किया है।[3]

काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने रस की अनुभूति ब्रह्मानन्द सदृश बताया है तथा उसकी अनुभूति होने पर अन्य सभी वेद्य तिरोहित हो जाते हैं।[4]

मम्मट के उपर्युक्त विचार **बृहदारण्यकोपनिषद्** से प्रभावित प्रतीत होते हैं- तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवायं पुरुष: प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्। अत्र पिताऽपिता भवति..... तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति।[5]

रससूत्र की दर्शनपरक व्याख्याएँ -

साहित्यशास्त्र के प्रमुख विषय रस-सिद्धान्त की व्याख्या भी दार्शनिक शब्दावली एवं सम्प्रदायों की पृष्ठभूमि में होती रही है। भरतमुनि प्रतिपादित रससूत्र की

---

1. प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।

   ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य: फलमन्यदुदाहृतम्॥ **काव्यप्रकाश** 2.17-18

2. रसो वै स:। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। **तैत्तिरीयोपनषिद्** ब्रह्मानन्दवल्ली, 7

3. अस्त्यत्रापि रसो वै स: रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति इत्यादि श्रुति:। **रसगंगाधार**, प्रथम आनन

4. अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी श्रृंगारादिको रस:।

   -**काव्यप्रकाश** 4.27 की वृत्ति

5. **काव्यप्रकाश**, चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ 242

व्याख्या साहित्यशास्त्रियों द्वारा मीमांसा, न्याय, सांख्य एवं शैव दर्शन की पृष्ठभूमि में की है, यह तथ्य साहित्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के अन्तर्सम्बन्ध को पुष्ट करता है। साहित्य एवं दर्शन का वैचारिक आकाश कुछ अर्थों में समान भी है।

रससूत्र की मीमांसापरक व्याख्या -

इस सूत्र के प्रथम व्याख्याकार भट्ट लोल्लट का मत कुछ विद्वानों के अनुसार[1] मीमांसामतानुसारी है। उसकी व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने मीमांसा से उत्तरमीमांसा[2] ग्रहण किया है। उनका मत है कि चूँकि इसमें नट पर राम का आरोप किया जाता है, जो एक मिथ्या प्रतीति है, अतः इस सिद्धान्त पर उत्तरमीमांसा का प्रभाव है। किन्तु उनके इस मत से रामसागर त्रिपाठी का कहना है कि 'उत्तरमीमांसा को कभी केवल मीमांसा नहीं कहा जाता यह अभिधापूर्व मीमांसा तक ही सीमित है। उत्पत्तिवाद वेदान्त के अनुकूल भी नहीं है, यद्यपि आरोप वेदान्त की विक्षेप शक्ति के निकट पहुँच जाता है फिर भी उसके लिए आरोप शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। अतः यह व्याख्या मान्य नहीं हो सकती। वस्तुतः मीमांसादर्शन का पदार्थवाद न्याय-वैशेषिक के बहुत निकट है। यह सिद्धान्त बौद्धों के शून्यवाद और वेदान्त के मायावाद का प्रतिषेध करता है। भौतिक पदार्थ आत्मा के समान ही सत्य है। भौतिक जगत् की रचना तीन तत्त्वों से होती है - **1. भोगायतन** - जिसमें रहकर आत्मा कर्मों का भोग करता है। **2. भोग**- साधन या इन्द्रियाँ और **3. भोग विषय** अर्थात् कर्मों का फल। मीमांसक अनुसार ईश्वर संसार का कारण नहीं है, यही वैशेषिकों से इनका भेद है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मीमांसादर्शन में उत्पत्तिवाद का सिद्धान्त पूर्णरूप से स्वीकृत है। यह कहना ठीक ही है कि लोल्लट के सिद्धान्त में मीमांसा के पदार्थवाद का अनुसरण किया गया है।'[3]

आचार्य रामसागर त्रिपाठी का कथन युक्तियुक्त माना जा सकता है जिस प्रकार पूर्वमीमांसा-सिद्धान्त में स्वर्गरूप आनन्द की प्राप्ति के लिए उपयुक्त नवीन दिव्यात्मा की या यज्ञजनित अपूर्व की उत्पत्ति यज्ञादि द्वारा मानी जाती है, उसी प्रकार

---

1. वामनाचार्य झलकीकर, **काव्यप्रकाश** के टीकाकार

2. **काव्यप्रकाश** की व्याख्या, पृ. 101-102

3. **काव्यप्रकाश** (ज्योतिष्मती व्याख्या) चतुर्थ उल्लास, पृ. 214

भट्ट लोल्लट भी सामाजिक को आनन्दानुभूति जिस रत्यादि स्थायी भाव से होती है उसकी विभावादि से उत्पत्ति मानते हैं। अत: भट्ट लोल्लट का रस विषयक मत उत्पत्तिवाद आश्रय होने से मीमांसानुसारी है।

भट्ट लोल्लट के मत में - 'विभानुभावव्यभिचारसंयोद्रसनिष्पत्ति:' इस सूत्र से संयोग पद से उत्पाद्य-उत्पादक का भाव सम्बन्ध या निष्पत्ति पद का उत्पत्ति अर्थ। उत्पाद्य-उत्पादक भाव सम्बन्ध स्थायीभाव का विभावों के साथ है।

रससूत्र की अनुमानपरक व्याख्या -

रस सूत्र की अनुमानपरक व्याख्या आचार्य शंकुक ने की। इस व्याख्या को अनुमितिवाद कहा जाता है। आचार्य शंकुक के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति न होकर अनुमिति है। संयोग का अर्थ अनुमापक सम्बन्ध से है। न्यायमतानुयायी स्वीकार करते हैं कि रस उत्पन्न नहीं होता है उसका अनुमान किया जाता है।

नट के द्वारा भावों के जिन कारणों, कार्यों और सहकारियों को अभिनय द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। वे वास्तव में कृत्रिम होते हैं परन्तु अभिनय कौशल की सूक्ष्मता के कारण कृत्रिम दृष्टिगत नहीं होते। इस प्रकार वे अपना कारण, कार्य और सहकारी नाम छोड़कर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के नाम से जाने जाते हैं। इसमें एक प्रकार की व्याप्ति बनती है।

जहाँ कहीं विभावादि का संयोग होता है वहाँ रत्यादि स्थायी भावों की सत्ता अवश्य होती है। इस व्याप्ति में गम्य अर्थात् अनुमाप्य रत्यादि भाव हैं और गमक अर्थात् अनुमापक विभावादि का संयोग है। इस व्याप्ति के बल पर नट में रति इत्यादि भावों का अनुमान लगाया जाता है, किन्तु इसमें वस्तु का एक ऐसा विलक्षण सौन्दर्य होता है, जिससे उसमें आस्वाद को उत्पन्न करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जो रत्यादि भाव अनुमान से ज्ञात होता है वह स्थायी भाव है। इस स्थायी का अनुमान नट में लगाया जाता है। यद्यपि यह नट में विद्यमान नहीं होता, सामाजिक वासना प्रेरित होकर इसका अनुमान करते हैं, यही रस कहलाता है। यह अनुमीयमान है।

आचार्य शंकुक की व्याख्या न्यायमतानुसारिणी है। इस सन्दर्भ में प्रो. सुरजनदास स्वामी कहते हैं - न्यायदर्शन जिस आत्मा की विशुद्धि स्थिति से दु:खाभाव रूप आनन्द की अनुभूति मानता है। उसका वह ज्ञान सुखादि लिङ्गों के द्वारा अनुमान मानता है, उसी प्रकार इस मत के अनुसार सहृदय जिस रति का आस्वाद (ज्ञान) प्राप्त कर चमत्कारानुभूति करते हैं, उस रति का वे रामत्वेन अभिमत नट में विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी के द्वारा अनुमान करते हैं।[1]

अत: शंकुक की व्याख्या न्यायपरक है। प्रेमस्वरूप गुप्त[2] ने चित्रतुरंग न्याय के आधार पर इसे बौद्धमतानुसारिणी माना है, किन्तु प्रथमत: चित्रतुरंग न्याय[3] का उल्लेख आचार्य मम्मट ने किया है। जबकि इसके स्थान पर **अभिनवभारती** में हरिताल इत्यादि रंगों से गाय बनाने की बात कही गई है।[4] अतएव निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है कि चित्रतुरंग न्याय का उल्लेख स्वयं शंकुक का है। द्वितीयत: बौद्धों की दृष्टि से आनन्दवादी व्याख्या को सम्यक् नहीं माना जा सकता, ऐसा रामसागर त्रिपाठी का मत है।[5]

रससूत्र की सांख्यपरक व्याख्या -

आचार्य शंकुक तथा भट्टनायक के बीच **अभिनवभारती** में एक अन्य रसविषयक मत[6] का उल्लेख है। मत सम्बद्ध व्यक्ति का नामोल्लेख **अभिनवभारती** में नहीं किया गया है, किन्तु मत को जानने से प्रतीत होता है कि यह सांख्य दर्शन की

---

1. **रससिद्धान्त की शास्त्रीय समीक्षा,** पृ. 48
2. डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त - **रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन,** 135
3. राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति राम: स्याद्वा न वाऽयमिति रामसदृशोऽयमिति, च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्य प्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरंगादि न्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्या ग्राह्यो नटे। - **काव्यप्रकाश** चतुर्थोल्लास, 102
4. यत्रोच्यते वर्णकहरितालादिभि: संयुज्यमान एव गौरित्यादि। - **अभिनवभारती,** षष्ठोल्लास, पृ. 244
5. द्रष्टव्य, **काव्यप्रकाश,** पंचम उल्लास की तारावती व्याख्या
5. तेन स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम: इत्यादावुपचारमङ्गीकुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेववुध्यमानेन दूषणा-विष्करणमौख्यात्, प्रामाणिको जन: परिरक्षित:, इति कितस्योच्यते। यत्तु अत्यन्ते न: प्रतीतिवैषम्यप्रसंगादि तत् किं यदत्रोच्यताम्। **अभिनवभारती,** पृ. 276

पृष्ठभूमि में की गई रससूत्र की व्याख्या है। इस व्याख्या को स्पष्ट करने से पहले यहाँ संक्षेप में सांख्यदर्शन की आधारभूमि को समझना उपयुक्त होगा।

सांख्यदर्शन के अनुसार महत् तत्त्व, अहंकार, पञ्च तन्मात्राएँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा पञ्च भूत ये 23 व्यक्त तत्त्व हैं। मूल प्रकृति अव्यक्त है, पुरुष चैतन्य रूप है। प्रकृत्यादि 24 तत्त्व जड़ तथा सुख-दु:ख मोहस्वभाव वाले हैं। इनमें मूल प्रकृति सत्त्व, रजस्, तमस् की समष्टि है। इसमें सत्त्व का स्वरूप सुख, रजोगुण का स्वरूप दु:ख तथा तमोगुण का स्वरूप मोह या विषाद है। अत: गुणत्रयात्मिका प्रकृति भी सुखदु:खमोहस्वभावात्मिका है। प्रकृति से जिन महत्तत्त्वादि 23 तत्त्वों का विकास हुआ है वे भी 'कारण गुणा: कार्यगुणान् आरभन्ते' इस न्याय के अनुसार त्रिगुणात्मक होने से सुखदुखमोहस्वभावात्मक है। इस प्रकार पञ्च भूतों से आविर्भूत होने वाले संसार के सम्पूर्ण पदार्थ सुखदुखमोह स्वभाव से युक्त हैं। अत: सभी पदार्थ सुख, दु:ख, मोह उत्पन्न करने वाले हैं। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका[1] में इसीलिए प्रकृति व महत् तत्त्वादि तत्त्वों को अविवेकीत्व आदि धर्मों से युक्त बताया है। उपर्युक्त रीति से संसार के सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक होने से सुख-दु:ख मोह स्वभावात्मक है तथा इन्द्रियों द्वारा इन विषयों के पुरुष के अन्त:करण या बुद्धि में पहुँचने पर ये पदार्थ उसे भी सुखदु:खमोह से समन्वित करने में समर्थ होते हैं, क्योंकि इन्द्रियों द्वारा इन विषयों के पुरुष के अन्त:करण या बुद्धि में पहुँचकर ये विषय बुद्धि को भी अपने राग से उपरक्त कर देते हैं और उसमें प्रतिबिम्बित पुरुष भी उन धर्मों से युक्त सा प्रतीत होता है, किन्तु पुरुष उस में भी वस्तुत: इन विषयों से उपरक्त नहीं होता है। वह सर्वदा गुणातीत, असंग तथा सुखदुखादि सभी द्वन्द्वों व वस्तुओं से असंस्पृष्ट रहता है किन्तु विषयाकाराकारित अतएव सुखदु:खादियुक्त बुद्धि में चैतन्य का प्रतिफलन होने से पुरुष अविवेक (बुद्धयादि के साथ अपना भेद न समझना) के कारण मिथ्या ही बुद्धि के सुख-दु:ख से अपने आपको संपृक्त होता है। ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में इसीलिए पुरुष को संसार, युक्ति तथा बन्धनादि से रहित बताया है।[2]

---

1. अविवेक्यादे: सिद्धि.....। **सांख्यकारिका** 17

   त्रिगुणाम्वविवेकी विषय.....। **सांख्यकारिका** 12

2. तस्मान्न न बध्यते न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।

   संसरति मुच्यते वध्यते च नानाश्रया प्रकृति:॥ **सांख्यकारिका** 52

अभिनवभारती में उल्लिखित पूर्वोक्त रसविषयक मत उपर्युक्त सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों पर आधारित ही परिलक्षित होता है। प्रकृत रस के व्याख्याकार ने माना है कि सुखदुखोत्पादन सामर्थ्य से युक्त बाह्यविभावादि सामग्री ही रस है। वह सामग्री त्रिगुणात्मक होने सुखदु:खस्वभाव वाली है। अत: रस भी सुखदु:खस्वभावात्मक है। विभावादि रूप बाह्यसामग्री से उत्पन्न होने वाले सुखदु:खस्वाभावात्मक आन्तर स्थायीभाव है। इसका स्पष्टीकरण 'सुखदु:खजननशक्तियुताजलस्थानीया विभावा:। संस्कारका: अनुभावव्यभिचारिण: इति' उक्ति से अभिनवभारती में किया गया है।

इस व्याख्या में विभावों को जलस्थानीय तथा अनुभाव व व्यभिचारी भावों को संस्कारक बताते हुए स्पष्ट किया गया है कि विभाव ही अनुभावों व व्यभिचारी भावों से संस्कृत होकर नाट्यरस बनते हैं।

विभावादि बाह्यसामग्रीरूप रस का आस्वादन करने वाले सहृदय के चित्त में रत्यादि आन्तर भाव उत्पन्न होते हैं। ये रत्यादि ही स्थायीभाव हैं। ये आन्तररत्यादि स्थायीभाव भी सुखदु:ख स्वभाव होते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत व्याख्या में सुखदु:खादि स्वभाव वाली, अनुभाव तथा व्यभिचारि भावों से संस्कृत, विभावादि बाह्य सामग्री को रस माना गया है और आन्तर रत्यादि स्थायिभावों को रस से जन्य स्वीकार किया गया है। इस मत में रस केवल आनन्दमय न होकर सुख-दु:खादि स्वभाव वाला है और उससे उत्पन्न आन्तर रत्यादि स्थायी भाव भी केवल सुखमय न होकर सुख-दु:खस्वभावात्मक हैं। इस व्याख्या में रस और स्थायीभावों में जन्य-जनक भाव माना है। जिस प्रकार सांख्यदर्शन में सुखदु:खादि स्वभावात्मक बाह्य रूप स्पर्श आदि सामग्री से बुद्धि में आन्तर सुख-दु:खादि स्वभावात्मक भाव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार सुखदु:खात्मक भावात्मक रत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं। प्रस्तुत व्याख्या में स्पष्टत: रत्यादि भावों को आन्तर एवं विभावादि बाह्य सामग्री से जन्य माना है।[1] अत: व्याख्या

1. जन्य शब्द से अभिव्यक्त अर्थ का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि सत्कार्यवादी सांख्य किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करता, अपितु अव्यक्त रूप में पूर्व विद्यमान वस्तु की कारण सामग्री के बल से व्यक्त रूप में स्थिति मानता है।

सांख्यदर्शन मतानुसारिणी व्याख्या है।

भट्ट नायक कृत रससूत्र की व्याख्या को भी आचार्यों ने सांख्यमतानुसारिणी बताया है।[1] इस व्याख्या के विषय में टीकाकारों का कहना है कि भोगावस्था में रज और तम का अभिनव होकर सत्त्व का उद्रेक होता है। अत: यहाँ सांख्यसिद्धान्त का अनुसरण किया गया है। इसलिए यह व्याख्या सांख्यमतानुसारिणी है।

रससूत्र की वेदान्तपरक व्याख्या -

पण्डितराज जगन्नाथ ने रससूत्र की वेदान्तपरक व्याख्या कर उसे नया आयाम दिया। पण्डितराज ने अभिनवगुप्त की व्याख्या को वेदान्तीय भाषा में प्रस्तुत किया। वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। जीव उसी का अंश है। जीव भी सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म है, किन्तु उसका वह स्वरूप संसार दशा में माया या अज्ञान के कारण तिरोहित रहता है। ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होने पर उस वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। जीव की सांसारिक दशा में प्राय: माया के कारण रजोगुण एवं तमोगुण का प्राधान्य होता है किन्तु जब अज्ञान का आवरण भंग होता है तब सत्त्व का उद्रेक होता है। जिससे आनन्दांश की अभिव्यक्ति होती है। उसी समय मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है। इसे पंचदशीकार ने और भी स्पष्ट किया है।[2] सत्त्व प्राधान्य में आनन्दांश की भी अभिव्यक्ति होने के कारण रजोगुण[3] के अभिभूत हो जाने से मन में निश्चलता आ जाती है। निश्चल: मन अन्तर्मुख होकर आत्माकार बन जाता है। अन्तर्मुख होने से बाह्य विषयों से सम्पर्क न रहने के कारण उसमें वेद्यान्तरशून्यता आ

---

1. प्रेमस्वरूप गुप्त ने भट्टनायक की व्याख्या शैवदर्शन के अनुसार बताया है। द्रष्टव्य, **रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन।**

2. शान्ता घोरास्तथा मूढ़ा मनसो वृत्तयस्त्रि धा। वैराग्यं क्षान्तिरौदायमित्याद्या: शान्तवृत्तय:॥
तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्या घोरवृत्तय:। संमोहो भयमित्याद्या: कथिता मूढवृत्तय:॥
वृत्तष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता। प्रतिबिम्बति शान्तासु सुखं च प्रतिबिम्बति।
घोरमूढासु मालिन्यात् सुखांशश्च तिरोहित:। ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिम्बनम्॥ **पंचदशी,** श्लोक 3, 4, 5, 9, 11

जाती है। ऐसी अवस्था में निश्चल अन्त:करण में आनन्द रूप आत्मा का पूर्ण प्रतिबिम्ब पड़ता है और स्वरूपानन्द का भाव जाग्रत होता है।

वेदान्त सिद्धान्त के उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर पण्डितराज प्रतिपादित रसस्वरूप को समझा जा सकता है। दोषाभावगुणालंकारयुक्त चमत्कारजनक काव्य जो पाठक के हृदय को आवर्जित होते हैं, ऐसे सहृदयहृदयावर्जक काव्य शब्दों के द्वारा जब रत्यादि स्थायिभावों के कारण कार्य और सहकारियों की उपस्थिति होती है तो वे सहृदयों के हृदय में स्थान प्राप्त कर मानस बन जाते हैं। सहृदय अपनी सहृदयता के कारण बार-बार उनका अनुसंधान करता है। सहृदयता सहकृत पुन:-पुन: अनुसंधानरूप भावना द्वारा कारणादि विभावादि में दुष्यन्तरमणीत्वादि आदि है सर्वविध विशेषताओं का परिहार होकर नायकत्वादि रूप के भावीकृत रूप से उनकी उपस्थिति होती है, इन कारण, कार्य और सहकारी के साधारणीकृत होते ही शकुन्तलादि में सहृदयों के हृदय में वासना रूप में स्थित रत्यादि के आस्वादाकुंरयोग्यतापादनरूप विभावन, अनुभावन-योग्यतापादन रूप अनुभावन तथा सर्वशरीर में रत्यादि के विशेष तथा संचारणरूप व्यभिचारण की सामर्थ्य आ जाती है। अत: विभावनादि व्यापारों के कारण, वे कारण, कार्य व सहकारी इह लौकिक नामों से व्यवहृत न होकर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन अलौकिक नामों से व्यपदिष्ट होते हैं। इनसे विभावादि की चर्वणा के काल में आत्मा के आनन्दांश के आवरक अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और परिमित प्रमातृत्व से रहित प्रमाता भग्नावरण (आवरण रहित) चित्त के द्वारा वासना रूप से वर्तमान रत्यादि की आनन्दांश के साथ अनुभूति करता है। अर्थात् उस समय भग्नावरण चित् द्वारा रत्यादि का तथा स्वयं चिद् रूप आनन्द का भान होता है।[1] यह रत्यादि-उपहित अथवा रत्यादि-अवच्छिन्न आत्मरूप आनन्द ही रस है।

---

1. समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितै: सहृदयहृदयं प्रविष्टै स्तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरणीत्वादिभिलौकिकविभानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यै: शकुन्तलादि-भिरालम्बनकारणैश्चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैरश्रुपातादिभि: कार्यश्चिन्तादिभि: सहकारिभिश्च संभूय प्रादुर्भाव-वितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेन अतएव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सहगोचरीक्रियमाण: प्राग्निविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रस:। **रसगंगाधर**, प्रथम आनन, पृ. 87, 88

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में नव्यमत के नाम से एक अन्य अद्वैतवेदान्ती मत प्रस्तुत किया है जो अनिर्वचनीय ख्याति पर अवलम्बित है।

जिस प्रकार लोक में 'इदं रजतम्' में शुक्ति में एक अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार काव्य में 'अहं दुष्यन्तः शकुन्तलादि विषयकरतिमान्' रस बोध में सहृदय में एक अनिर्वचनीय नवीन प्रातिभासिक रति की उत्पत्ति होती है और इसी रजत में स्थानीय रति का बोध सहृदय को होता है।

यह रति अनुभवगम्य होती है, इसलिए असत् नहीं कही जा सकती और वास्तविक नहीं होती इसलिये सत् भी नहीं कही जा सकती। सत् असत् रूप में निर्वचन न होने के कारण यह प्रतिभासिक कहलाती है और प्रातिभासिक होने के कारण साक्षिभास्य कहलाती है।[1]

इस प्रकार रससूत्र की विभिन्न दार्शनिक पृष्ठभूमियों में साहित्यशास्त्रियों द्वारा व्याख्यायें की गई हैं, जो साहित्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के अन्तःसम्बन्ध को प्रमाणित एवं पुष्ट करती हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी रससूत्र की व्याख्या शैवदार्शन की पृष्ठभूमि में की है, उन्होंने रस को शैवाद्वयवादी आधार पर अभिव्यक्त माना है। रति आदि स्थायिभाव वासना रूप में हमारे हृदय में अनभिव्यक्त दशा में संस्कारित रहते हैं। जैसे ही विभावादि से संयोग होता है वे रसरूप में व्यक्त हो जाते हैं। अभिनवगुप्त रस को प्रत्यभिज्ञा के आधार पर सत् कहते हैं

अभिनवगुप्त व्याख्या रस सिद्धान्त की चर्चा विस्तार से अन्तिम अध्याय में है। यहाँ साहित्यशास्त्रीय एवं दर्शनशास्त्र के अन्तःसम्बन्धात्मक प्रसंग के कारण उसका उल्लेख प्रसंगतः आवश्यक था।

---

1. नव्यास्तु नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यातादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानो अनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादि-विषयकरत्यादिरेव रसः। **रसगंगाधर**, रसनिरूपण

शैवदर्शन एवं साहित्यशास्त्र -

अन्य दर्शनों की भाँति शैवदर्शन और साहित्यशास्त्र भी एक-दूसरे से सम्बद्ध है। वस्तुत: शैवदर्शन व साहित्यशास्त्र एक-दूसरे के समानान्तर हैं। किसी भी शास्त्र की शुरुआत प्रयोजनमूलक होती है। शैवदर्शन व साहित्यशास्त्र की प्रयोजनमूलक अवधारणा पर दृष्टिपात् करने से दृष्टिगत होता है कि दोनों का उद्देश्य है प्रीति या परनिर्वृत्ति अर्थात् आनन्द। जिसके लिये दोनों ही शास्त्रों (प्रत्यभिज्ञाशास्त्र एवं साहित्यशास्त्र) में विश्रान्ति शब्द का प्रयोग मिलता है।

साहित्यशास्त्र का प्रमुख विषय रस सिद्धान्तत: एवं प्रयोगत: आनन्दात्मक है, जो पूर्णत: शैवदर्शन की देन कही जा सकती है। क्योंकि अभिनवगुप्तपादाचार्य से पूर्व की रससूत्र की व्याख्याओं में परिलक्षित होता है कि रस सुखदु:खात्मक था।[1]

इस प्रकार रस में आनन्द की प्रतिष्ठा करने वाला मुख्यत: शैवदर्शन है। शैवदर्शन में आत्मा को चेतन एवं आनन्दमय कहा गया है।[2] वही विश्व के समस्त पदार्थों में अनुस्यूत है। इसे ही चैतन्य परासंवित्, अनुत्तर परमेश्वर, परमशिव कहा गया है।[2] वह नाना विचित्रता-संवलित जगत् परमशिव से अभिन्न तथा उसका स्फुरण मात्र है।[3]

तन्त्रालोक में आचार्य अभिनव ने सम्पूर्ण जगत् को आनन्दशक्ति का स्फार विस्तार कहा है।[4] आनन्दशक्ति से ही सम्पूर्ण विश्व सृजित होता है किन्तु जीव मायाजनित कला, विद्या, राग, कला, नियति, नामक पाँच कंचुक से आवृत्त किये जाने पर सीमित शक्तिमान होता है। जीव अर्थात् पुरुष को सम्पूर्ण जगत् जो शिव की कला होने से आनन्दमय है, दु:खरूप प्रतीत होता है। अभेद में भेद-बुद्धि का उदय हो जाता

---

1. सुखदु:खस्वभावो रस:। **अभिनवभारती,** षष्ठ अध्याय पृ. 244
2. चैतन्य आत्मा आनन्दमय:। **शिवसूत्र** 1.1
3. श्रीमत्परम शिवस्य परमानन्दमय प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादिधरण्यन्तमखिलमभेदेनैव स्फुरति। न तु वस्तुत: अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा। अपितु परमशिवभट्टारक एव इत्थं नाना वैचित्र्यसहस्रै: स्फुरति। **प्रत्यभिज्ञाहृदय,** सूत्र 3
4. सर्वैवायं विश्वप्रपंच: आनन्द शक्ति विस्फार:। **तन्त्रालोक,** आह्निक 3, भाग 1, पृ. 478

है, परन्तु जगत् के परमानन्दमय परमशिव का ही व्यक्त रूप का ज्ञान हो जाने पर अपरिमित आनन्द की उपलब्धि होती है। चेतना का यह रूप स्फरता, विमर्श, आनन्द आदि भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित होता है। यह देशकाल की सीमा से ऊपर है। इसे ही परमशिव का हृदय भी कहा जाता है। इसी हृदय का धारक सहृदय है। हृदय की इस स्पन्दमानता स्फुरद्रूपता के सहारे व्यक्ति दु:खादि भावनाओं में भी आनन्दमय रहता है क्योंकि विश्व को परिव्याप्त करने वाली आनन्द की मूल चेतना इससे स्फुरित हो उठती है। वही साहित्य की रसात्मक अनुभूति है, जो देशकाल परिमित आदि रस विघ्नों से मुक्त होकर सहृदय की आनन्दकारी स्थिति है।

साहित्यशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र दोनों ही प्रमातावादी दृष्टि रखते हैं। दोनों ही शास्त्रों में प्रमाता को केन्द्र में रखकर उसी की मन:स्थितियों का विश्लेषण किया गया है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में प्रमाता की जहाँ सात श्रेणियाँ बतायी गयी हैं, उसी प्रकार साहित्यशास्त्र में अधिकारी के कई स्तर बताये गए हैं, जिसमें भरत के प्रेक्षक से लेकर अभिनव के वीतविघ्न सहृदय आदि समाविष्ट हैं। दोनों ही आनन्दवादी दृष्टिकोण के कारण वस्तुनिष्ठता के स्थान पर व्यक्तिनिष्ठता की प्रबलता से प्रस्तुत करते हैं, यही दृष्टिकोण ही दोनों शास्त्रों की प्रमातापरक विचारधारा का भी आधार है, अन्त:सम्बन्ध का भी।[1]

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में परमशिव का रूपक कलाकार है। जिस प्रकार अभिनयादि कलाकार का स्वभाव होता है, उसी प्रकार परमशिव भी स्वभावत: अपनी कला के द्वारा शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त षट्त्रिंशकात्मक जगत् का आभासन करते हैं। जिस प्रकार साहित्यशास्त्र में नाट्य को भाव अर्थात् सत्ता का अनुकीर्त्तन कहकर उसके सत्तावान् होने का समर्थन किया गया है, उसी प्रकार परमशिव के द्वारा आभासित सृष्टि रूपी नाटक भी सत् है।

शैवदर्शन व साहित्यशास्त्र की निकटता का ही कारण यह भी है कि जिस दर्शन का परमतत्त्व कलाकार है, उसके लिये कला उसका प्रियतम विषय होगा। यही

---

1. द्रष्टव्य, **अभिनवभारती,** षट्त्रिंशकात्मकं जगत्

कारण है कि शैवदर्शन के आचार्यों ने संगीत, साहित्य, चित्रकला आदि पर समानाधिकार रखते हुए उन्हें अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है। भारतीय परम्परा के अनुसार 64 कलाओं में साहित्यशास्त्र सर्वाधिक लोकप्रिय कला है। जिसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन में समान महत्त्व दिया गया है। इसीलिये शैवदार्शनिकों ने साहित्यशास्त्रीय विषयों पर भी समान भाव से ग्रन्थ लिखे हैं, उनके इन ग्रन्थों में साहित्यशास्त्रिय समस्याओं को शैव दर्शन के आधार-पटल पर बहुत ही आसान तरीके से सुलझाया गया है, जैसे कि रसाभिव्यक्ति, सहृदय की अवधारणा आदि।[2]

दोनों के अन्त:सम्बन्ध के विषय में गवेषणा करने पर कई पक्ष सामने आते हैं। साहित्यशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के कुछ आचार्य ऐसे हैं जिन्होंने दोनों ही पक्षों पर समान दृष्टि से विचार किया है। उनके द्वारा दार्शनिक विषयों को स्पष्ट करने हेतु साहित्यिक उदाहरणों का प्रयोग किया गया है एवं साहित्यशास्त्रीय विषयों को समझने हेतु दार्शनिक उदाहरणों का प्रयोग किया गया है। आचार्य वसुगुप्त रचित शैवदर्शन के प्रथम ग्रन्थ शिवसूत्र में ही कई साहित्यिक रूपकों का उल्लेख मिलता है। वहाँ आत्मा को नर्त्तक अन्तरात्मा को रङ्ग एवं इन्द्रियों को प्रेक्षक कहा गया है।[3]

कश्मीर परम्परा के सभी साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राय: शैवदार्शनिक शब्दावली का प्रयोग मिलता है, यहाँ तक कि गन्थों एवं उनके अध्यायों के नामकरण का आधार भी वही प्रतीत होता है। **काव्यप्रकाश** में प्रकाश शब्द का प्रयोग दर्शाता है कि आचार्य मम्मट को व्यापक रूप से शैवदर्शन की पीठिका प्राप्त है, जो मंगलाचरण में प्रयुक्त 'नियति'[4] शब्द के प्रयोग से और भी स्पष्ट हो जाता है। 'नियति' शब्द वस्तुत:

1. नाट्यभावानुकीर्त्तनम्। **नाट्यशास्त्र,** द्वितीय अध्याय
2. **अभिनवभारती,** रस विवेचन, ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 40 एवं रसविवेचन
3. **नर्तक आत्मा** - (क) नृत्यति अन्तिर्निगूहितस्वस्वरूपावष्टम्भमूले, तत्तज्जागरादि नानाभूमिकाप्रपञ्चं, स्वपरिस्पन्द- लीलयैव स्वभित्तौ प्रकटयति। इति नर्त्तक आत्मा। **शिवसूत्रवृत्ति** 3.9

   (ख) रङ्गोऽन्तरात्मा - रङ्ग तत्तद्भूमिकाग्रहणस्थानम्, अन्तरात्मा संकोचावभासा सत्त्व शून्य प्रधान: प्राणप्रधनो वा पुर्यष्टकनियन्त्रितो जीव:। तत्र हि अयं कृतपद: स्वकरणपरिस्पन्दक्रमेण जगन्नाट्यमाभासयति। वही 3.10।

   (ग) प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि - संसारनाट्यप्रकटनप्रमोदनिर्भरं स्वत्वरूपम् अन्तर्मुखतया साक्षात् कुर्वन्ति। वही 3.11
4. **काव्यप्रकाश,** मंगलाचरण

शैवदर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। मम्मट ने मंगलाचरण में उल्लेख किया है कि 'नियतिकृता नियमरहिताम्।'

उपर्युक्त पंक्ति की वृत्ति में आचार्य मम्मट ने उल्लेख किया है कि 'नियति शक्त्या नियतरूपा'।[1] इसकी व्याख्या करते हुए गणेशत्र्यम्बक देशपाण्डे ने लिखा है, 'मम्मट के कथन का तात्पर्य है कि कवि की सृष्टि नियति के नियमों से मुक्त है। जबकि ब्रह्मा की सृष्टि नियति के नियमों से संचालित होती है। कश्मीर शैवदर्शन में नियति 'शक्ति' का एक रूप है जो मायीय जगत् में कार्यरत है। इसकी परिभाषा इस प्रकार है - नियतिर्योजनां धत्तं विशिष्टे कार्यमण्डले। इसे हम कार्य-कारण-सम्बन्ध की एक श्रृंखला अथवा व्यावहारिक जगत् का एक प्रकार का यान्त्रिक कारणता नियम कह सकते हैं। कवि ऐसे किसी यान्त्रिक कारणता नियम से नहीं बँधता।[2] इसके अतिरिक्त कुन्तक, अभिनवगुप्त, जयरथादि ऐसे साहित्य-दर्शन आचार्य हैं, जिनके साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में शैवदार्शनिक शब्दावली प्रायशः परिलक्षित होती है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में स्थान-स्थान पर स्पन्द शब्द का प्रयोग किया है।[3] उनके ग्रन्थ में स्पन्द शब्द का प्रयोग लगभग शताधिक बार हुआ है। यह 'स्पन्द' शब्द शैवाद्वैत की स्पन्द शाखा का प्रधान तत्त्व है।

आचार्य अभिनवगुप्त शैवाद्वैत दर्शन के प्रधान आचार्य हैं, साथ ही साहित्यशास्त्रीय परम्परा में भी इनका प्रमुख स्थान है। आचार्य अभिनव ने **तन्त्रालोक** एवं अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर साहित्यिक रूपकों की चर्चा की है।[1] आचार्य अभिनवकृत साहित्यशास्त्रीय गन्थों का सम्यक् विवेचन-विश्लेषण शैव दर्शन की

---

1. **काव्यप्रकाश,** मंगलाचारण की वृत्ति

2. **अभिनवगुप्त,** पृष्ठ 113

3. **वक्रोक्तिजीवित**, मंगलाचरण, कारिका 1, 2

4. यस्यान्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयो। तं शक्ति चक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः। **स्पन्दकारिका** 1.1

आधार-भूमि के बिना संभव नहीं है। **अभिनवभारती** में वर्णित अधिकारी तथा लोचन में वर्णित सहृदय का सम्बन्ध वस्तुत: 'हृदय' से है। हृदय मूलत: शैवदर्शन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसे कई नामों से जाना जाता है। इसकी विस्तार से चर्चा तृतीय अध्याय में की जायेगी। **अभिनवभारती** में रसानुभूति की दशा को संविद्विश्रान्ति, समापत्ति आदि शब्दों से अभिहित किया गया है, जो शैवदर्शन में परमशिवमयता के लिये प्रयुक्त होते हैं।

वक्रोक्तिजीवित एवं शैवाद्वैत दर्शन -

वक्रोक्तिजीवित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है जो पूर्णत: शैवदर्शन से सम्बद्ध है क्योंकि इसके रचनाकार आचार्य कुन्तक शैव थे। उनके इस काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ को देखकर प्रतीत होता है कि उन पर कश्मीर शैवदर्शन की स्पन्द शाखा का प्रभाव है। वक्रोक्ति जीवित में अध्यायों को उन्मेष कहा गया है। उन्मेष शैव दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। यह सृष्टि सम्बद्ध शब्द है। **तन्त्रसार** की **नीरक्षीर** विवेक व्याख्या में उन्मेष को परमेश्वर की तीसरी शक्ति कहा गया है। यह आद्य परिस्पन्द है। वैचारिक उल्लास शक्ति है।[2]

वक्रोक्तिजीवित में अनेकश: स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न रूपों में (स्पन्द, स्वस्पन्द, परिस्पन्द) प्रयुक्त शब्द मूलत: स्पन्दर्शन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। वक्रोक्तिजीवित के मंगलाचरण में ही कुन्तक परिस्पन्द शब्द का प्रयोग किया है जो शक्ति स्वरूप है।[3]

स्पन्द शब्द 'स्पदि किंचिच्चलने' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ

---

1. **तन्त्रालोक,** 10.85, 86 भाग 4, पृ. 76, 77,
2. परमहंस मिश्र, **तन्त्रसार** (नीरक्षीरविवेक व्याख्या), तृतीय आह्निक, पृ. 60
3. जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्तकर्मविधायिनम्।
   शिवं शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरणं नुम:॥ **वक्रोक्तिजीवित,** मंगलाचरण

'किंचित् चलन' है। स्पन्द की व्याख्या में उत्पलाचार्य ने कहा है कि 'स्पन्दनश्च निस्तरङ्गस्यास्य तावत् परमात्मनः युगपन्निर्विकल्पा या सर्वत्रौन्मुख्यवृत्तिता।' अर्थात् निस्तरङ्ग (शान्त) अचञ्चल, निर्विकार, परमात्मा परमशिव की एक साथ सर्वत्र अर्थात् विश्वरूप समस्त आकारों में औन्मुख्यवृत्तिता अर्थात् उसकी ओर उन्मुख हो जाना स्पन्द है। इसके दो रूप हैं -

1. सामान्य स्पन्द - इस जगत् के परमकारणभूत सत्य अपने स्वरूप का यह मैं हूँ इसी से सब प्रभूत होता है। इसी में सब प्रलीन हो जाता है। इस प्रकार का जो परामर्श रूप आन्तरिक ज्ञान है, वह सामान्य स्पन्द है।[1]

2. विशेष स्पन्द - अनात्मभूत देहादि में अपने अभिमान की उद्भावना करते हुए एक-दूसरे से भिन्न मायाजन्य प्रमाताओं के विषयभूत मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, इत्यादि सत्त्व, रजस् एवं तमोरूप गुणों से युक्त ज्ञान के प्रवाह रूप संसार के जो कारण हैं, वे विशेष स्पन्द है।[2]

वक्रोक्तिजीवित में स्पन्द शब्द का कई रूपों में प्रयोग किया गया है। आचार्य कुन्तक ने स्पन्द का प्रयोग स्वभाव के पर्याय के रूप में किया है। 'काव्ये यः सहृदया काव्यार्थ विदस्तेषामाह्लादमानन्दं करोति यस्तेन स्वस्पन्देन आत्मीयेन स्वभावेन सुन्दरः सुकुमारः इति।'[3] 'यत्र यस्मिन् भावानां स्वभावः स्वपरिस्पन्दः सरसाकूतो रसनिर्भराभिप्रायः इत्यादि।'[4]

---

1. परमकारणभूतस्य सत्यस्य आत्मस्वरूप 'अयमहमस्मि' अतः सर्व प्रभवति अत्रैव च प्रलीयते इति प्रत्यवमर्शात्मको निजोधर्मः सामान्यस्पन्दः। **स्पन्दकारिकाविवृत्ति** 2.5
2. विशेषस्पन्दाः अनात्मभूतेषु, देहादिषु, आत्माभिमानमुद्भावयन्तः परस्परभिन्नमायीयप्रमातृविषया सुखितोऽहं दुःखितोऽहमित्यादयो गुणमयाः प्रत्यवप्रवाहाः संसारहेतवः। वही
3. **वक्रोक्तिजीवित**, 1.9 टीका
4. **वक्रोक्तिजीवित**, 1.4 की वृत्ति

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में कुन्तक ने स्पन्द का प्रयोग स्वभाव के पर्याय रूप में किया है। शैव दर्शन में भी स्पन्द का अर्थ स्वभाव ही है। यह शक्ति का स्वभाव है।

इसके अतिरिक्त स्पन्द शब्द का प्रयोग धर्म के पर्याय रूप में, विलसित के पर्याय रूप में भी हुआ है। जो पूर्णत: शैवदर्शन से प्रभावित अवधारणा है।

प्रतिभा -

प्रतिभा कवि कर्म का प्रधानभूत कारण है, जो काव्यसर्जना का आधार है। काव्य में प्रतिभा की अवधारणा भी शैव दर्शन से प्रभावित रही है। जिस प्रकार परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से विश्व का उन्मीलन करते हैं, उसी प्रकार कवि भी प्रतिभा रूप अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से काव्य का निर्माण करता है। परमशिव की तरह कवि भी काव्यजगत् के रूप में स्वयं को ही व्यक्त करता है। कवि की इच्छा शक्ति का स्वातन्त्र्य काव्यजगत् में प्रतिभा कहलाता है।

कवि सृष्टि के प्रसंग में इसे प्रतिभा कहते हैं और परमशिव जब स्वयं को व्यक्त करते हैं तो उस सन्दर्भ में इसके लिये 'परा प्रतिभा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रतिभा एवं परा प्रतिभा के रूप में परा (परावाक्, पराशक्ति) की यह तत्त्व-मीमांसीय अवधारणा ही प्रतिभा (कवि सृष्टि) की काव्य सम्बन्धी अवधारणा का मूल है। कवि और परमशिव दोनों ही अपने-अपने संसार को अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार व्यक्त करते हैं। कवि के सन्दर्भ में आनन्दवर्द्धनाचार्य द्वारा कहा गया है कि -

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापति।

यथास्मै रोचते विश्वम् तथेदं परिवर्त्तते॥[1]

दूसरी ओर प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में क्षेमराज कहते हैं -

---

1. **ध्वन्यालोक**, 3.43 की वृत्ति, पृष्ठ 312

सा स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।[1]

अभिनवगुप्त ने इसे चित्प्रतिभा भी कहा है, जिसका अर्थ चैतन्यात्मक इच्छा है। इच्छा ही प्रतिभा है। प्रज्ञा है। आदिम स्पन्दन के बार-बार उल्लसित होने की आकांक्षा है।[2]

प्रतिभा का लक्षण आचार्य अभिनवगुप्त ने साहित्यशास्त्रानुसार ही दिया है। प्रतिभानवनवोल्लेखशालित्वात्प्रतिभामित्युक्तम्। यहाँ यह शैवी शक्ति का उन्मेष है।[3] अभिनवगुप्त इसी प्रतिभा को कविसृष्टि का भी कारण मानते हैं -

आद्योद्रेकमहत्त्वेऽपि प्रतिभात्मनि निष्ठिताः।

ध्रुवं कवित्व वक्रत्वशालितां यान्ति सर्वतः॥

अर्थात् प्रमाता में कवित्व शक्ति, वक्तृत्व शक्ति का अथवा शास्त्र निर्माण शक्ति का सामर्थ्य भी प्रतिभा से उच्छलित हो उठता है।[4] अतः प्रतिभा अभिव्यक्ति का कारण है।[5] यह प्रतिभा काव्यसृष्टि के लिये ही आवश्यक नहीं है, अपितु व्यंग्यार्थ प्रतीति कराने हेतु इसका सहृदय सामाजिक में होना भी नितान्त आवश्यक है।[6] दर्शनशास्त्रीय आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में भी प्रतिभा को दोनों स्तरों पर परिभाषित किया गया है। प्रथम स्तर (उन्मेष) में वह परमशिव की शक्ति है तो द्वितीय स्तर पर वह

---

1. **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्,** सूत्र 2
2. असौ प्रतिभा प्रज्ञा नाम आद्योच्छलत्तात्मकत्वेन बहिरुल्लिसिषास्वभावाम्। **तन्त्रालोक,** भाग 1 आह्निक प्रथम, पृ. 20
3. **तन्त्रालोक,** भाग 4, पृ. 161-162
4. वही, 11.78
5. प्रतिभावद् गुरुशास्त्रादि लक्षणमपि प्रमाणमभिव्यक्ति निमित्तमस्ति इति। वही, 13.155, पृ. 516
6. अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदय। **अभिनवभारती,** अध्याय षष्ठ

व्यक्ति प्रमाता की आध्यात्मिक शक्ति है। जिसके आश्रय से व्यक्ति सर्वोच्च प्रकाश में स्थित हो जाता है। तन्त्रालोक में भी कहा गया है कि -

''प्रतिभा व्यक्ति को वैयक्तिकता के धरातल से उठाकर सद्विद्या की दशा तक पहुँचा देती है। इस दशा में वह शक्ति तत्त्व के रूप में जाना जाता है। यदि मनुष्य सद्विद्या के धरातल से नहीं उतरता तो वह शिव ही हो जाता है।''[1]

इस प्रकार प्रतिभा की अवधारणा भी प्रत्यभिज्ञाशास्त्र से प्रभावित रही है। प्रतिभा को आचार्य भट्टतौत एवं उनके शिष्य अभिनवगुप्त ने साहित्यशास्त्र में स्थापित किया है। वह शैवाद्वैतवादी दार्शनिक दृष्टि के कारण ही सम्भव हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञा शास्त्र (शैवदर्शन) में गहरा सम्बन्ध है। साहित्यशास्त्र में न केवल अभिनवकृत ग्रन्थों का ही अपितु परवर्ती ग्रन्थकारों में कश्मीर शैवदर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। आचार्य विश्वनाथ के रसस्वरूप में पूर्णत: शैवाद्वैतवादी दृष्टि ही प्रतीतिगोचर होती है। इसकी आंशिक चर्चा अगले अध्याय में उपलब्ध है, लेकिन इस विषय का सम्यक् विवेचन एक स्वतंत्र शोध प्रबन्ध की अपेक्षा रखता है।

---

1. स एव प्रतिभायुक्त: शक्तित्वं निगद्यते।

   तत्पातावेशतो मुक्त: शिव एव भवार्णवात्॥ **तन्त्रालोक** 13.118

साहित्य में अधिकारी की अवधारणा

साहित्य में अधिकारी की अवधारणा महत्त्वपूर्ण रही है। अधिकारी को साहित्य की कसौटी माना गया है। महाकवि कालिदास **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** में अपने नाटक की सार्थकता को प्रेक्षकों पर ही आश्रित मानते हैं।[1] साहित्य के अधिकारी की जो दृष्टा है, श्रोता है, अनुभवकर्त्ता है एवं रसभोक्ता है, संस्कृत साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति रही है जो साहित्य की सफल परिणति के लिए आवश्यक है।

साहित्य प्राय: तीन स्थितियों से होकर गुजरता है - कवि-काव्य-पाठक। इन तीनों के सामञ्जस्य/सामरस्य से ही साहित्यिक कृति पूर्ण होती है। कवि अपनी प्रतिभा से स्वानुभव को कृति के माध्यम से पाठक तक पहुँचाता है। वह जो अनुभव करता है वैसा ही पाठक को भी होता है। कवि-अभिनेता-पाठक इन तीनों को समान अनुभव होता है। पाठक अर्थात् अधिकारी की अवधारणा साहित्य में प्रारम्भ से ही रही है, किंतु यह अवधारणा परिवर्तनशील अथवा विकासशील रही है। साहित्य के आचार्यों ने अधिकारी को साहित्य के स्वरूप एवं अपेक्षाओं के सन्दर्भ में अधिकारी के भिन्न-भिन्न मूर्त्त प्रकार से रूपायित किया है।

अधिकारी की इस वैविध्यपूर्ण अवधारणा में अधिकारी को कई नाम मिले। आचार्य भरत ने उसे प्रेक्षक कहा तो आचार्य वात्स्यायन ने नागरक, दण्डी ने विदग्ध, भट्टनायक ने सामाजिक, अभिनवगुप्त ने सहृदय, मम्मट ने प्रतिभाजुष् तथा राजशेखर ने भावक।

भारतीय साहित्यशास्त्रीय प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ भरतकृत नाट्यशास्त्र है। इस ग्रन्थ में आचार्य भरत ने षष्ठ अध्याय में रस का उल्लेख किया है तथा साहित्य में

---

1. आपरितोषाद् न साधुमन्येप्रयोगविज्ञानम्।

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्यय: चेत:॥ **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** 1.2

उसकी उपस्थिति को भी आवश्यक बताया है। यह रस कहाँ उत्पन्न होता है। किन कारणों से प्रकाशित होता है, कौन इसका अनुभव करता है। इन सभी प्रश्नों की पृष्ठभूमि में अधिकारी का उदय होता है। जिसे आचार्य भरत ने प्रेक्षक कहा है।

काव्य के उद्देश्यों के अन्तर्गत काव्य का प्रधान उद्देश्य परोक्ष-अपरोक्ष रूप से आनन्द प्राप्ति है। यह आनन्द किसे होता है कौन इसका अनुभव करता है ये सारे विषय अधिकारी सम्बद्ध हैं। **नाट्यशास्त्र** के षष्ठ अध्याय में रस के स्वरूप एवं निष्पत्ति के विषय में उल्लेख मिलता है - 'विभावानुभावसंचारीभावसंयोगात् रसनिष्पत्तिः' जिसकी परवर्ती आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। इस रसनिष्पति प्रसंग में रस के आश्रय की समस्या भी प्रस्फुटित होती है। रस आस्वादरूप है अथवा आस्वाद्य रूप। विषयगत या विषयीगत है। इसी समस्या के कारण रसविषयक व्याख्याओं में मत वैविध्य रहा है तथा अधिकारी का स्वरूप भी अस्थिर रहा है। संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में इसी आस्वाद्य एवं आस्वादरूपता के कारण रस आश्रय को लेकर आचार्यों में मतभेद रहा है।

जहाँ तक रस के आश्रय (आस्वाद्य एवं आस्वाद) का प्रश्न है भरत का मत इस सम्बन्ध में बिल्कुल स्पष्ट है - इसका आश्रय रंगमंच है, इसकी उत्पत्ति रंगमंच पर होती है - आचार्य भरत की दृष्टि प्रयोग विज्ञानपरक है। उनकी दृष्टि में रंगमंच केन्द्रीय वस्तु है और वे रस की निष्पत्ति भी रंगमंच पर ही स्वीकार करते हैं, नट या प्रेक्षक में नहीं। अभिनवगुप्त के अनुसार भरत के मत में रस नाट्य ही है।[1] प्रेक्षक तो रंगमंच पर उत्पन्न होता रस का आस्वाद करता है। इस मत के समर्थन में सुरेन्द्र वारलिंगे का कहना है -

"रस को भरत ने प्रायः कहीं भी सहृदयगत नहीं बताया। प्रत्युत स्थान-स्थान पर रसों को नाट्याश्रित दिखाया है। रस तो रंगमंच पर विभावानुभाव तथा संचारिभावों के संयुक्त रूप का नाम है।"[2]

---

1. **हिन्दी अभिनवभारती**, पृष्ठ 428

2. **सौन्दर्य तत्त्व और काव्य सिद्धान्त की भूमिका**, मनोहर काले

आचार्य भरत ने स्पष्टत: रस के पदार्थ रूप का निवर्चन किया है - "रस: इति क: पदार्थ?"[1] रस रंगमंच पर उत्पन्न एक संयोजन है, विभावादि के स्थायीभाव से विशिष्ट समागम रूप एक संयोजन, एक पदार्थ जो आस्वाद्य होता है - उच्यते आस्वाद्यत्वात्।[2] भरत मुनि रस सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य हैं, रससूत्र की सर्वप्रथम व्याख्या स्वयं भरत ने ही की है, उनके अनुसार -

जिस प्रकार नाना व्यंजनों, औषधियों और द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से षाडवादि का निवर्तन होता है उसी प्रकार नाना भावों के उपगत होने पर स्थायी भाव रसरूप को प्राप्त होते हैं, फिर स्वयं प्रश्न उपस्थित कर उसका उत्तर देते हैं कि रस पदार्थ कैसे है? उत्तर है- आस्वाद्य होने के कारण। रस का आस्वादन कैसे होता है? उत्तर है - जिस प्रकार प्रसन्नचित्त व्यक्ति नाना प्रकार के व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए रसों का आस्वादन करते हुए हर्षादि का अनुभव करता है, उसी प्रकार सहृदय प्रेक्षक अभिनय द्वारा व्यंजित नाना भावों तथा वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनयों के साथ संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करता हुआ हर्षादि का अनुभव करता है। नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण इन्हें नाट्य रस भी कहा जाता है।[3]

उपर्युक्त व्याख्या से भरत मुनि का रस के प्रति मन्तव्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है -

---

1. **नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय
2. वही
3. यथा हि नानान्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्ति तथा नानाभावोपगमद्रिसनिष्पत्ति:। यथा हि गुडादिभि-द्रव्यव्यञ्जनै: औषधिभिश्च षाडवादयो रसनिर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। अत्राह इति क: पदार्थ:? उच्यते आस्वाद्यत्वात् कथमास्वद्यते रस:? यथाहि नाना व्यञ्जनसंस्कृतं अन्नं भुञ्जाना रसनां स्वादयन्ति सुमनस: पुरुषा हर्षाञ्श्चाधिगच्छन्ति तथा नाना भावाभि-व्यञ्जितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस: प्रेक्षका: हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। तस्मान्नाट्य-रसा: इत्यभिव्याख्याता:। **अभिनवभारती**, षष्ठ अध्याय।

1. रस आस्वाद्य है।

2. विभाव, अनुभाव और वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से संयुक्त होकर स्थायी भाव रस रूप में परिणत होता है।

3. स्थायी भाव से तात्पर्य मूल नायक अर्थात् अनुकार्य के स्थायी भाव से है न कि सामाजिक के स्थायी भाव से।

4. प्रेक्षक रस का आस्वाद करता हुआ हर्षादि भावों को प्राप्त करता है।

उपर्युक्त निष्कर्षों के आधार पर भरत के रस सम्बन्धी मन्तव्य को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है -

अभिनय एवं भावों के संयोग से उद्‌बुद्ध स्थायी भाव ही रस है। रस यह परिभाषा विषयगत है क्योंकि अनुकार्य का स्थायी भाव ही नाट्यादि अभिनयों और विभावादि के संयोग से रस रूप में परिणत होता है। इस प्रकार भरत की दृष्टि में रस आस्वाद्यरूप है, प्रेक्षक द्वारा रंगमंच पर उत्पन्न इसी आस्वाद्यरूप रस का आस्वादन किया जाता है।

भरतसूत्र के व्याख्याता अभिनवगुप्त ने रस को विषय से निकाल कर विषयी में समाविष्ट करने का सफल प्रयास किया है। अभिनव रस को आस्वाद्य न मानकर आस्वाद मानते हैं।[1] अभिनवगुप्त के अनुसार सहृदय सामाजिक के हृदय में वासना रूप विद्यमान स्थायी भाव उद्‌बुद्ध होकर उस स्थिति तक पहुँच जाता है, जहाँ देश काल के बन्धन नहीं रह जाते और सामाजिक प्रस्तुत प्रसंग के साथ एकाकार होकर आत्मविभोर हो जाता है। यही आनन्दमयी चेतना रस है।

इस प्रकार रस के दो स्वरूप विषयीगत (आस्वाद रूप) एवं विषय गत (आस्वाद्य रूप) परिलक्षित होते हैं। इन दोनों में से विषयगत अर्थात् आस्वाद्य रूप को लगभग स्पष्ट किया जा चुका है। दूसरा विषयीगत है जो अनुभूति परक है। विषयगत अर्थात् भरत का अभीष्ट अर्थ 'रस' के स्थान पर 'काव्य' का वाचक बन गया। भाव की

---

1. आस्वादनात्मनुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते। **अभिनवभारती,** षष्ठ अध्याय

कलात्मक अभिव्यंजना रस नहीं है, काव्य है और इस प्रकार परिभाषित काव्य का आस्वाद रस है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस का प्रतिनिधि एवं परिनिष्ठित अर्थ अन्ततः यही मान्य हुआ है। रस स्वरूप के विषय में अभिनवगुप्त मत काफी महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार -

लोक व्यवहार में कार्य-कारण सहकारी रूप लिंगों (अनुमापक हेतुओं) को देखकर (रत्यादि रूप) स्थायी भावात्मक, अन्य व्यक्ति की चित्तवृत्ति के अनुमान के अभ्यास की तीव्रता के कारण, उन्हीं उद्यान, कटाक्षावीक्षण आदि (अनुभावों) के द्वारा (जो कि नाटकों में) कारणत्व आदि रूप को छोड़कर विभावना, अनुभावना एवं समुपरंजकत्व मात्र रूप को प्राप्त इसलिये अलौकिक विभावादि नामों से कहे जाने वाले कारणादि रूप पुराने संस्कारों के उपजीवित्व द्योतन के लिये विभावादि नाम से निर्दिष्ट किये जाने वाले और भावाध्याय में भी जिनका स्वरूप आगे कहेंगे। इस प्रकार के विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भावों के सामाजिक की बुद्धि में गुण-प्रधान भाव से भली प्रकार से योग अर्थात् सम्बन्ध अथवा एकत्रीभाव को प्राप्त हुये (विभावादि) के द्वारा अलौकिक तथा निर्विघ्न संवेदन रूप चर्वणा का विषय बनाया गया हुआ (रत्यादि रूप) अर्थ जिसका चर्वणा एकमात्र सार है (न कि घटादि के समान पहले से सिद्ध) अर्थात् विद्यमान स्वरूप वाला अर्थात् केवल उस (चर्वणा) काल में ही रहने वाला अर्थात् चर्वणा के अतिरिक्त काल में न रहने वाला (इसलिये भट्ट लोल्लटादि के रसाभिमत) स्थायी भाव से विलक्षण 'रस' होता है।[1]

---

1. तत्र लोके व्यवहारे कार्यकारण सहचारात्मक लिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुभावाभ्यास पादवाधुना। तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षकादिभिलौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावना समुपरञ्जकत्वमात्र प्राणैः अत एवाऽलौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः प्राच्य कारणादिरूपसंस्कारोपजीवनख्यापनायविभादिनामधेयत्य-पदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूप भेदैर्गुणप्रधानपर्यायेण सामाजिकधियिसग्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्रयं वासादितवद्भिः अलौकिकनिर्विघ्नं संवेदनात्मक चर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणतैकसारो, न तु सिद्ध स्वभावः तात्कालिक एव, न तु चर्वणातिस्क्ति कालावलम्बी स्थायी विलक्षणः एव रसः। **हिन्दी अभिनवभारती**, पृष्ट 483

इसलिये अलौकिक चमत्कार स्वरूप रसस्वाद, स्मृति, अनुमान, लौकिक प्रत्यक्षादि से भिन्न ही है क्योंकि लौकिक अनुमान की प्रक्रिया से संस्कृत (सामाजिक, नाटकों में) प्रमदादि (विभावादि) को (लौकिक परगत रत्यादि के समान) तटस्थ रूप से ग्रहण नहीं करता है। अपितु हृदयसंवादात्मक (समस्त सामाजिकों के हृदय की एकरूपता रूप) सहृदयत्व के बल से आये बिना ही तन्मयीभाव से प्राप्त (उचित) चर्वणा के उत्पादक रूप से (प्रमदादि विभावों का अनुभव करता है) और वह चर्वणा (उस रसास्वाद से) पहले किसी अन्य प्रमाण से नहीं होती है कि उसे स्मृति कहा जा सके और न उसमें लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यापार होता है किन्तु अलौकिक विभावादि के संयोग के बल से ही यह चर्वणा होती है और वह (रस चर्वणा)-

1. प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान रूप लौकिक प्रमाण से उत्पन्न रत्यादि के ज्ञान से तथा

2. योगि प्रत्यक्ष से होने वाले (अर्थात् दूसरे के द्वारा अनुभव किये जाने वाले रत्यादि के) तटस्थ पर संवेदनात्मक ज्ञान से एवं

3. समस्त विषयों के प्रति वैराग्य युक्त (असम्प्रज्ञात समाधि में स्थित) परम योगी में रहने वाले स्वयं केवल स्वात्मानन्द के अनुभव रूप (साक्षात्कारात्मक ज्ञान) से भिन्न प्रकार की होती है क्योंकि इनमें

(क) (लौकिक प्रमाण जन्य में) अर्जनादि रूप अन्य विघ्नों के आ जाने से

(ख) प्रारम्भिक भुज्जान योगी के प्रत्यक्ष के परगत रत्यादि का प्रत्यक्ष करने के कारण तटस्थ्य और अस्पष्टता होने के कारण तथा

(ग) (पारयोगी के प्रत्यक्ष में आत्मनिष्ठता रूप) विषयावेश की विवशता के कारण (सौन्दर्य) आह्लादकत्व का अभाव होने से (रसचर्वणा) इन सबसे भिन्न प्रकार की है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने रस को अलौकिक स्थायी भाव से विलक्षण आनन्दमयी चेतना कहा है। अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम अनुभव किया कि रस का आधार लौकिक उपकरण होने पर भी उसका स्वरूप अलौकिक है, इसलिये वह स्थायी भाव के स्वरूप से विलक्षण स्वरूप वाला है। इसी परम्परा अथवा विचार-सारणि में आचार्य विश्वनाथ भी हैं, जिन्होंने रस के स्वरूप का सांगोपांग विवेचन किया है। इस विवेचन में रस का सम्पूर्ण स्वरूप समाहित हो गया है। आचार्य विश्वनाथ ने रस के स्वरूप को निर्धारित आठ बिन्दुओं में स्पष्ट किया है।[1]

1. सहृदय के हृदय में सत्त्व गुण के उद्रेक के पश्चात् रस का स्वरूप स्पष्ट होता है।

2. रस अखण्ड होता है।

3. रस स्वप्रकाशानन्द है।

4. रस चिन्मय होता है।

5. रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण होता है।

6. रस ब्रह्मानन्द के समान है।

7. रस सामाजिक से अभिन्न रूप होता है।

8. रस अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से अस्पृष्ट होता है।

1. सत्त्वोद्रेक -

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मक होती है।[2] ये तीन गुण हैं -

---

1. सत्त्वोद्रेक अखण्ड-स्वप्रकाशानन्द चिन्मय:
   वेद्यान्तर स्पर्श शून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदर:॥
   लोकोत्तर चमत्कार प्राण: कैश्चित् प्रमातृभि:
   स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस:॥ **साहित्यदर्पण,** 3.2,3
2. त्रिगुणमविवेकी विषय सामान्यचेतनं प्रसवधर्मि।
   व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥ **सांख्यकारिका,** 12

1. सत्त्व गुण 2. रजो गुण 3. तमो गुण। सत्त्व गुण अधिकतर रजोगुण और तमोगुण से आच्छादित रहता है। सत्त्व गुण ही व्यक्ति को शुद्ध-बुद्ध आत्मा (पुरुष) को पहचानने की क्षमता प्रदान करता है। आत्मा का निर्मल स्वरूप भी सत्त्व गुण के प्राधान्य में अभिव्यक्त होता है, फलतः आचार्य ने सर्वप्रथम रस के स्वरूप के लिये सामाजिक में सत्त्वगुण के आविर्भाव को प्रमुखता प्रदान की है। सत्त्व गुण के उदित होने पर व्यक्ति राग-द्वेष से मुक्त होने लगता है अतः रसास्वाद के लिये राग-द्वेष से मुक्ति प्राप्त करना अनिवार्य शर्त है।

2. रस अखण्ड है -

विश्वनाथ रस की कोटियाँ, या उसके उच्च, मध्यम या निम्न जैसे स्तर स्वीकार नहीं करते। उसके अनुसार रस आनन्दमयी चेतना है, फलतः उसके खण्ड नहीं किये जा सकते अखण्ड से तात्पर्य आत्मानुभूति की पूर्णता से है।

3. रस स्वप्रकाशानन्द है -

विश्वनाथ का स्वप्रकाशानन्द से तात्पर्य है आत्मा का प्राकृतिक-मलों[1] से विनिर्मुक्त होना, क्योंकि आत्मा प्रकाशमयी चेतन सत्ता है किन्तु जिस प्रकार मेघाच्छादित सूर्य की आभा मलिन प्रतीत होती है उसी प्रकार आत्मा के प्रकाश का भी मलाच्छादित होने के कारण सामाजिक अवलोकन या अनुभव नहीं कर पाता। रस दशा में ये मल तिरोहित हो जाते हैं और उस समय केवल आत्मा अपने मूल रूप में प्रकाशित होने लगती है, आत्मा के प्रकाशमान स्वरूप का ही नाम आनन्द है।

4. रस चिन्मय होता है -

विश्वनाथ का चिन्मय से तात्पर्य आत्म-स्वरूप है। रस स्थिति आत्म-स्वरूप स्थिति है। जहाँ केवल शुद्ध-बुद्ध आत्मा ही व्यक्त रहती है शेष सभी मलों का तिरोभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में रस और आत्मा में कोई अन्तर नहीं रहता इसीलिये

1. मलों से तात्पर्य आणवादि मल से है, जिनके कारण अज्ञान फैलता है और आत्मा संकुचित हो जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में 'रसो वै स:'[1] कहकर रस की चिन्मयता की घोषणा बहुत पहले ही कर दी है।

5. वेद्यान्तर स्पर्शशून्य -

अन्य सभी प्रकार के ज्ञान का अभाव ही रस स्थिति का भाव है। कहने का तात्पर्य कि रस की स्थिति में स्व, पर, तटस्थ आदि की अनुभूति का तिरोभाव हो जाता है। अर्थात् उस दशा में प्रमाता देशकाल की परिधि को लाँघ जाता है, और आत्मलीन हो जाता है। उस स्थिति में तन्मयता के अतिरिक्त अन्य समस्त ज्ञान कुछ समय के लिये समाप्त हो जाते हैं। समस्त जड़ चेतन समुदाय ब्रह्ममय दृष्टिगत होने लगता है।

6. ब्रह्मास्वाद सहोदर -

यहाँ पर विश्वनाथ ने काव्यानन्द या काव्य रस के स्वरूप को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार काव्यास्वाद और ब्रह्मास्वाद में तत्त्वत: कोई भेद नहीं है। भेद केवल उपाधि का है। ब्रह्मानन्द स्थायी होता है, जिसका एक बार आस्वाद कर लिये जाने के पश्चात् वह आस्वाद कभी समाप्त नहीं होता, जबकि काव्यास्वाद अस्थायी होता है क्योंकि काव्यादि की सहायता से मलों का तिरोभाव ही होता है, उनका समूल नाश नहीं होता। काव्यास्वाद सरल एवं शीघ्राधिगम्य तो होता है, किन्तु स्थायी नहीं हो पाता। इसलिये विश्वनाथ ने रस को 'ब्रह्मास्वाद' न कहकर ब्रह्मास्वाद सहोदर कहा है।

लोकोत्तर चरमत्कार प्राण -

रस का चमत्कार लौकिक न होकर अलौकिक होता है। इसलिये रस को पूर्णतया परिभाषित नहीं किया जा सकता। और ब्रह्मास्वाद सहोदर होने के कारण अनेक आचार्य इसे निर्वचनीय भी कह देते हैं। वस्तुत: यहाँ पर इसीलिये विश्वनाथ ने 'अलौकिक' शब्द का प्रयोग न कर 'लोकोत्तर' शब्द का प्रयोग किया है और सम्भवत:

---

1. **तैत्तिरीयोपनिषद्** 3.7

यहाँ 'लोक' शब्द से आचार्य का मन्तव्य 'इन्द्रिय' से रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रसोद्गत चमत्कार इन्द्रिय अनुभव से परे की वस्तु है।[1] क्योंकि लौकिक चमत्कार का अनुभव इन्द्रियों द्वारा किया जाता है, किन्तु रस चमत्कार के लिए इन्द्रियों के प्रवेश का अवसर नहीं रहता। अत: यह एक ऐसा चमत्कार है जो इन्द्रियानुभूत नहीं होता। फलत: यह चमत्कार लोकोत्तर है और यही लोकोत्तर चमत्कार रस का प्राणभूत तत्त्व है।

स्वाकारावदभिन्नत्व -

रस की स्थिति अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में होती है। इसका तात्पर्य कि आस्वाद और रस कोई दो भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं हैं, जिस प्रकार आत्मा या परमात्मा के 'सत्, चित् और आनन्द' कोई भिन्न तत्त्व नहीं हैं। ब्रह्म सच्चिदानन्द है और सच्चिदानन्द का नाम ही ब्रह्म है। इसी प्रकार रस का नाम ही आस्वाद है और आस्वाद ही रस है। अर्थात् रस अनुभूति का विषय नहीं है, बल्कि अनुभूति ही स्वयं रस है।

इस प्रकार रस के स्वरूप, परिभाषा आदि से यह तो स्पष्ट हो जाता है, आनन्दमय अनुभूति ही रस है और वह सहृदय सामाजिक को ही होती है किन्तु यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वह किस रूप में होती है और कैसे होती है? जिससे कि ज्ञात हो सके कि अधिकारी की साहित्य में भूमिका कहाँ तक है? इन सारे प्रश्नों का समाधान **अभिनवभारती, लोचन** आदि ग्रन्थों में उल्लिखित रससूत्र की विभिन्न व्याख्याओं के विश्लेषण से संभव है। रससूत्र के प्रमुखत: चार व्याख्याकार हैं, इनमें प्रथम नाम भट्टलोल्लट का आता है। जिन्होंने रस की उत्पत्ति मानी है। दूसरा नाम शंकुक का है, जिनकी भरत के रससूत्र पर अनुमिति परक व्याख्या है। तीसरे आचार्य भट्ट नायक हैं, इनकी व्याख्या भुक्तिवाद से प्रसिद्ध है। अन्तिम व सर्वमान्य व्याख्या आचार्य अभिनवगुप्त ने की है, जिनका मत अभिव्यक्तिवाद के नाम से जाना जाता है। इन सभी आचार्यों ने निम्नबिन्दुओं के अन्तर्गत अपने विचार रखे -

---

1. चमत्कारश्चित्तविस्तारूपो विस्मयापरपर्याय:। **साहित्यदर्पण,** 3.3 की वृत्ति

1. रस की 'निष्पत्ति' किस प्रकार होती है?

2. सूत्रगत 'संयोग' शब्द से क्या तात्पर्य है?

3. सूत्रगत 'निष्पत्ति' शब्द से क्या तात्पर्य है?

4. रस निष्पत्ति या प्राप्ति किसे होती है?

क. अनुकार्य को

ख. अनुकर्त्ता को

ग. सामाजिक को

घ. कवि को

5. अनुकार्य से मूल ऐतिहासिक महापुरुष से तात्पर्य है अथवा काव्य या नाट्य निबद्ध प्रमुख पात्र से है।

1. भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद -

भरत सूत्र के सर्वप्रथम व्याख्याकार भट्टलोल्लट हैं। इनके द्वारा लिखित कोई भी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। भरत सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में इनके विचारों को अभिनवगुप्त ने **लोचन** और **अभिनवभारती** में उद्धृत किया है और मम्मट ने भी अपने ग्रन्थ **काव्यप्रकाश** में उद्धृत किया है। आचार्य लोल्लट के अनुसार -

1. रस की निष्पत्ति अनुकार्य में होती है।

2. निष्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति। इसीलिये सिद्धान्त का नाम भी उत्पत्तिवाद रहा।

3. नट में रस नहीं रहता किन्तु उसमें भी आरोपित कर लिया जाता है। इसलिये इसे आरोपवाद भी कहा जाता है।

4. संयोग का अर्थ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध विभावादिकों का उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध होता है, अर्थात्

क. आलम्बनोद्दीपन विभावों तथा स्थायिभावों में उत्पादक-उत्पाद्य सम्बन्ध होता है।

ख. अनुभाव तथा स्थायिभाव में गम्य-गमक सम्बन्ध है।

ग. व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभाव में पोष्य-पोषक सम्बन्ध है।

इन सभी बिन्दुओं के आधार पर लोल्लट का मत इस प्रकार रखा जा सकता है -

''रत्यादि स्थायी भाव नायकादि विभावों द्वारा उत्पन्न होकर तथा उद्यान, ज्योत्स्नादि उद्दीपनों द्वारा उद्दीप्त होकर एवं कटाक्ष भुजक्षेपादि से प्रतीति योग्य होकर उत्कण्ठादि व्यभिचारियों द्वारा पुष्ट होकर दुष्यन्त रामादि अनुकार्यों में रस रूप में रहता है। रूप की समानता के कारण नट में वह आरोपित होकर सामाजिकों को चमत्कृत कर देता है।''[1]

इस प्रकार भट्ट लोल्लट रस की स्थिति अनुकार्य में मानते हैं, जो अतार्किक सी प्रतीत होती है, क्योंकि अनुकार्य के भाव लौकिक होते हैं और इस कारण रस भी लौकिक ही होगा। अनुकार्य में रस की स्थिति मान लेने पर साहित्यिक अधिकारी, काव्यग्राहक, सामाजिक पूर्णत: अस्पृष्ट रह जाता है।

शंकुक का अनुमितिवाद -

शंकुक के अनुसार - काव्यों के अनुशीलन से तथा शिक्षा के अभ्यास से

---

1. विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणै: रत्यादिको भावो जनित: अनुभावै: कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभि: कार्यै: प्रतीतियोग्य: कृत: व्यभिचारिभिनिर्वेदादिभि: सहकारिभि: रूपचितो, मुख्ययो वृत्त्या रामादावनुकार्ये: तद्रूपतानुसन्धानन्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतय:। - **काव्यप्रकाश**, चतुर्थ उल्लास

सिद्ध किये गये अपने कार्यों से, नट के द्वारा ही प्रकाशित किये जाने वाले कृत्रिम होते हुये भी कृत्रिम न समझे जाने वाले विभावादि शब्द से व्यवहृत होने वाले कारण, कार्य और सहकारियों के साथ संयोग अर्थात् गम्य-गमक भावरूप सम्बन्ध से अनुमीयमान होने पर भी वस्तु सौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमानों से विलक्षण स्थायी रूप से सम्भाव्यमान रति आदि भाव वहाँ न रहते हुये भी सामाजिक के संस्कारों से आस्वाद किया जाता हुआ रस कहलाता है।[1] इस प्रकार शंकुक के सिद्धान्त के दो भाग किये जा सकते हैं -

1. सामाजिक द्वारा नट में उस नट में जो कुशल अभिनय की तल्लीनता में अपने आपको रामादि नायक समझने लग जाता है, रामादि के रत्यादि भावों की अनुमिति।

2. तभी सामाजिक को अपनी वासना द्वारा उन भावों के रंगमंचीय सौन्दर्य-प्रभाव के बल पर रसानुभूति की प्राप्ति आचार्य शंकुक के अनुसार - रस अनुमेय है। विभाव अनुभाव आदि अनुमापक हैं।

रत्यादि भाव राम में विद्यमान रहता है, विभावादि के द्वारा अनुमित वह 'रस' कहलाता है, तात्पर्य कि सहृदय रस का नट में अनुमान करता है, किन्तु मुख्य रूप से वह राम (अनुकार्य) में रहता है। शंकुक का मत भट्ट लोल्लट पर ही आधारित है, अन्तर केवल इतना है कि लोल्लट के मत में सहृदय रामादि का नट में आरोप करता है। शंकुक के अनुसार अनुमान करता है।

शंकुक ने अपने अनुमान को लौकिक अनुमान से विलक्षण माना है, उनके

---

1. काव्यानुसन्धानबलात्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगात्, गम्यगमकभावरूपात्, अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमान विलक्षणः स्थायित्वेन संभाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नापि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्री शंकुकः। **काव्यप्रकाश**, चतुर्थ उल्लास

मत से लोक में चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं -

1. सम्यक् ज्ञान : यह राम ही है। यही राम राम है।

2. मिथ्या ज्ञान : जो राम है। उसे राम न समझना।

3. संशय ज्ञान : यह राम है अथवा नहीं।

4. सादृश्य ज्ञान : यह राम के सदृश है।

यहाँ पर शंकुक ने 'चित्रतुरग न्याय' से नट में राम के रूप का अनुमान कर उपर्युक्त चारों ज्ञानों से पृथक् ज्ञान माना है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लोग चित्रस्थ घोड़े को देखकर उसे वास्तविक घोड़ा मान लेते हैं, उसी प्रकार सामाजिक अभिनय के अवसर पर नट को वास्तविक राम समझकर विभावादि के द्वारा उसमें रस का अनुमान कर लेता है।

इस प्रकार शंकुक भी रस की वास्तविक स्थिति अनुकार्य में ही मानते हैं, सामाजिक के लिये वहाँ कोई स्थान नहीं है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद -

भट्ट नायक की भी वही स्थिति है, जो पूर्ववर्ती दोनों आचार्यों की रही इनका ग्रन्थ भी अनुपलब्ध है और इनके मत का ज्ञान भी हमें अभिनवगुप्तादि आचार्यों के उद्धरणों से ही होता है। भट्ट नायक प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य के सिंहासन पर सर्वप्रथम सामाजिकों को गौरवमय स्थान प्रदान किया है। भट्ट नायक की मूल उद्भावनएँ इस प्रकार हैं -

1. सहृदय सामाजिक ही रस का उपभोग करता है।

2. काव्यस्वादन की तीन सीढ़ियाँ या आधार हैं -

क. अभिधा ख. भावकत्व ग. भोजकत्व।

3. संयोग का अर्थ है - भोज्य-भोजक सम्बन्ध।

4. निष्पत्ति का अर्थ है - भोग

भट्ट नायक के मत को मम्मट इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं -

''ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यंज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय संविद्विश्रान्तिसतत्वेन भोगेन भुज्यते।''[1]

न तो अनुकार्य और अनुकर्त्ता के सन्दर्भ में और न ही सामाजिक के सन्दर्भ में अर्थात् किसी भी सन्दर्भ में रस की न तो प्रतीति होती है, न उत्पत्ति होती है और न ही अभिव्यक्ति होती है अपितु काव्य और नाटक में तुरन्त बाद आने वाले (अभिधा के) द्वितीय व्यापार भावकत्व से विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। विभावादि के साधारणीकरण करने वाले व्यापार भावकत्व से भाव्यमान स्थायीभाव प्रकाशमान एवं संविद्विश्रान्ति वाला हो जाता है क्योंकि उस समय सामाजिकों में सत्त्व का उद्रेक हो जाता है, उसी का भोग से आस्वादन किया जाता है।

अभिनवगुप्त का अभियक्तिवाद -

ध्वन्यालोकलोचन में अभिनवगुप्त ने अपना सुचिन्तित पक्ष रखा है -

'तस्मादनुत्थानोपहतः पूर्वपक्षः रामादिचरितं तु न सर्वस्य हृदय-संवादिति महत्साहसम्। चित्रावासनाविशिष्टत्वाच्चेतसः। यदाह - तासामनादित्वं आशिषो नित्यत्वात्। जातिदेशकाल व्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात्।' इति तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगीकरण व्यापारश्च काव्यस्य रसविषयोध्वननात्मैव मान्यत्किञ्चित्। भावकत्वमपि समुचित गुणालंकार परिग्रहात्मकमस्याभिरेव वितन्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एवं प्रत्युज्जीवितः न च काव्यशब्दानां केवलानाम् भावकत्वम्

1. **काव्यप्रकाश**, चतुर्थ उल्लास

अर्थापरिज्ञाने तद्भावात्। न च केवलानमर्थानाम् शब्दान्तरेणाप्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्। यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यक्तः इत्यत्र। भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतेव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्य शब्दानां भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्। यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थ व्यक्तः इत्यत्र। तस्मात् व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिकयेति कर्त्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इति त्र्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतन्ति। भोगोऽपि ते काव्यशब्देन क्रियते, अपितु घनमोहान्ध्य संकटता निवृत्तिद्वारेणास्वाद-अपर नाम्नि अलौकिके द्रुति-विस्तर विकासात्मनि भोगे कर्त्तव्ये लोकोत्तरे ध्वनन-व्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वनीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्। रस्यमानतोदित चमत्कारा नतिरिक्तत्वाद् भोगस्येति। सत्त्वादीनां चांगांगि भाववैचित्र्यस्यानन्त्याद् द्रुत्यादित्वेनास्वादगणना न युक्ता। परब्रह्मास्वाद सब्रह्मचारित्वं चास्त्वस्य रसस्वादस्य। व्युत्पादनं च शासन प्रतिपादनाभ्यां शास्त्रेतिहास कृताभ्यां विलक्षणम्। यथा रामस्तथाह-मित्युपमानातिरिक्तां रसास्वादोपाय स्वप्रतिभा विजृम्भा रूपां व्युत्पत्तिमन्ते करोतीति कमुपालभामहे। तस्मात्थितमेतत् - अभिव्यञ्जन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रसन्त इति। तत्राभिव्यक्ति प्रधानतया भवन्त्वन्यथा वा।[1]

अभिनवगुप्त की मौलिक उद्भावनायें इस प्रकार हैं -

1. रस निष्पत्ति सहृदय सामाजिक को होती है।

2. रस आनन्दमय है।

3. रस आस्वादरूप है।

4. निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति है।

5. संयोग का अर्थ - व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध

6. साधारणीकरण व्यष्टि के धरातल पर न होकर समष्टि के धरातल पर होता है।

7. साधारणीकरण भावकत्व व्यापार का परिणाम नहीं अपितु व्यंजना का ध्वनन व्यापार है।

---

1. ध्वन्यालोकलोचन, द्वितीय उद्योत

इस प्रकार अधिकारी की अवधारणा बहुत कुछ पूर्वोक्त सिद्धान्तों पर आधारित रही है। भरत मुनि से लेकर अभिनवगुप्त तक अधिकारी का स्वरूप एक जैसा इन्हीं कारणों से नहीं रहा। रस की आस्वाद्यपरक व्याख्याओं से अधिकारी का स्वरूप सामान्य जन के समान परिलक्षित होता है क्योंकि उस स्थिति में रस की पदार्थ रूपता को संकेतित किया गया है। रस की उत्पत्ति षाड़वादि रस के समान गुड़द्रव्यादि के विशेष संयोजन से रंगमंच पर होती है, जिसका आस्वादन कर सामाजिक हर्षादि को प्राप्त करता है। यह स्थिति अभिनवगुप्त के सहृदय से बिल्कुल भिन्न परिलक्षित होती है। यहाँ प्रेक्षक का अनुभव सुख-दु:खात्मक प्रतीत होता है। जहाँ साहित्य के अधिकारी का स्वरूप सामान्य व्यक्ति की तरह परिलक्षित होता है।

इसका कारण सम्भवत: प्रमेयपरक अवधारणा है अर्थात् रस प्रमेय रूप में सामाजिक को प्राप्त होता है। जिसे सामाजिक उसी रूप में प्राप्त करता है। इस अवधारणा में रस सामाजिक से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। अधिकारी के परिवर्तनशील स्वरूप के पीछे भारतीय दार्शनिक चिन्तन की भी महती भूमिका रही है। भट्ट लोल्लट आदि पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने मीमांसा आदि के धरातल पर रस को परिभाषित किया जहाँ सामाजिक अर्थात् प्रमाता के लिये कोई अवकाश नहीं है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने रस को विषयिपरक स्वरूप अर्थात् आस्वाद परक स्वरूप प्रदान किया इसका कारण उनके पास प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में एक ठोस प्रमातावादी अवधारणा है। विषयिपरक अवधारणा में रस की केन्द्रीय स्थिति सहृदय सामाजिक में मानी है। यहाँ रस पदार्थ रूप अर्थात् प्रमेयपरक न होकर अनुभूतिपरक आस्वादरूप है। रस अनुभूति का विषय नहीं अपितु अनुभूति है। अभिनवगुप्त पादाचार्य ने रस के भौतिकवादी स्वरूप को शुद्ध आनन्द परक चैतन्यस्वरूप प्रदान किया है। अधिकारी सामान्य से भिन्न विमलप्रतिभाशाली एवं व्युत्पत्ति सम्पन्न (काव्यशास्त्रानुशीलन) होना चाहिए। उसका अनुभव संविद्विश्रान्ति मय होता है। साधक की तरह यह आनन्द मय स्थिति होती है।

अभिनव के अधिकारी एकसाथ एक ही जैसा अनुभव करते हैं क्योंकि सभी का स्वरूप एक जैसा होता है। उन सभी में समान हृदय अर्थात् स्वच्छ निर्मल दर्पणवत् विशदीभूत मन होता है। उन सबकी चेतना साधारणीकृत चेतना होती है। जो उनके समानानुभव के कारण है। अधिकारी का ऐसा स्वरूप प्रत्यभिज्ञा दर्शन की देन कहा जा सकता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन मूलतः प्रमातावादी दर्शन है। यह आनन्दपरक एवं आत्मस्वरूपात्मक दर्शन है। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ ही आत्मपरामर्श अपने स्वरूप ज्ञान होता है। सम्पूर्ण विश्व परप्रमाता परमशिव का ही आभास है और उसी का प्रतिबिम्ब है। वह विश्रान्ति आनन्दावस्था है।[1] इसी कारण अभिनवगुप्त के अनुसार रस संविद्विश्रान्ति चमत्कार स्वरूप है। जो सहृदय सामाजिकों में अभिव्यक्त रूप में रहता है। जैसे ही उसका वर्णनीय से तन्मयीभाव होता है, उसका हृदय अज्ञानादि से मुक्त होकर विस्तीर्ण हो जाता है और वह सहृदयप्रमाता स्वरूप आनन्द को प्राप्त कर पर प्रमाता परमशिव रूप हो जाता है। यही अधिकारी के इस स्वरूप का मूल है। परवर्ती विद्वानों ने अभिनव सम्मत अधिकारी के इसी स्वरूप को ग्रहण किया है।

आचार्य मम्मट ने अभिनव के मत का ही अनुसरण करते हुये अधिकारी के लिये 'प्रतिभाजुष'[2] का प्रयोग किया है। इसकी व्याख्या करते हुए काव्यप्रदीपकार कहते हैं कि -

'प्रतिभाजुष' शब्द के प्रयोग द्वारा आचार्य मम्मट प्रतिपादित करते हैं कि व्यंग्यार्थ अर्थात् रस प्रतीति प्रतिभा होने पर ही होती है। प्रतिभा का अर्थ है -

1. भारूपं परिपूर्णं स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम्।
   इच्छासंवित्करणैर्निर्भरितम् अनन्तशक्तिपरिपूर्णम्॥
   सर्वविकल्पविहीनं शुद्धं शान्तं लयोदयविहीनम्।
   यत्परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत्। **परमार्थसार,** 10,11

2. वक्तृवोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधेः।
   प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम्॥ **काव्यप्रकाश** 3.21-22

नवनवोन्मेष-शालिनी प्रज्ञा। उसी को वासना भी कहा जाता है।[1]

वस्तुत: **काव्यप्रदीप** की उपर्युक्त व्याख्या अभिनवगुप्त की व्याख्या से ही प्रेरित और प्रभावित है। अभिनवगुप्त का अधिकारी एक ओर विमल प्रतिभाशाली है, दूसरी तरफ प्रतिभा साक्षात् ज्ञानरूपिणी भगवती शिवा (पार्वती) है जिसके उन्मेष से सारा विश्व क्षणभर में उन्मीलित हो जाता है।[2] किसी-किसी प्राक्तन पुण्यशाली को ही यह प्रतिभा प्राप्त होती है।

आचार्य विश्वनाथ ने अधिकारी के लिए 'प्रमाता'[3] शब्द का प्रयोग किया है। जो पूर्णत: अभिनवगुप्त के सहृदय के समान साधारणीकृत आनन्दानुभूति का आस्वादन करता है। उनके अनुसार प्रमाता की स्थिति देशकाल व्यक्तिविशेष सम्बन्ध से विरहित चिदानन्द स्वरूप हो जाती है।[4]

प्रेक्षक -

भरत ने काव्य ग्राहक के लिये प्रेक्षक शब्द का प्रयोग किया है। यह प्रेक्षक सहृदय से भिन्न स्वरूप वाला है। सहृदय संस्कृत काव्यशास्त्र की एक सर्वथा भिन्न विषयिपरक अवधारणा का पारिभाषिक शब्द है। इसका प्रयोग आठवीं शताब्दी में आचार्य वामन ने किया है।[5]

---

1. प्रतिभाजुषामित्यनेन नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा। या वासनेत्युच्यते। तस्यां सत्यामेव वक्तृवैशिष्ट्यायादि सत्त्वेऽपि व्यंङ्ग्य प्रतीतिरिति प्रतिपादितम्॥ **काव्यप्रदीप**, पृ. 416
2. यदुन्मीलनशक्त्यैव, विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
   स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वारे प्रतिभां शिवाम्॥ **लोचन**, तारावती, पृ. 334
3. प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते। **साहित्यदर्पण**, 3.10, **शैवदर्शन सम्मत शिव प्रमाता से तुलनीय,**
4. पयो यथाम्लयोगेन रूपान्तरपरिणतं सद् दध्युच्यते। यथा वामिशाकर्पूरखण्डमारिचादियोगेन रूपान्तरपरिणता प्रमाणकमुच्यते। तथा रत्यादि: स्थायिभाव: काव्योपस्थापित विभावादियोगेन रूपान्तरपरिणताश्चिदानन्दचमत्कास्वरूपं प्राप्त: रस:। **साहित्यदर्पण** विवृत्ति:, तृतीय परिच्छेद
5. **काव्यालंकारसूत्रवृत्ति**, 1.2.2

सुमनस प्रेक्षक रंगमंच पर सिद्ध रस का आस्वादन करता है और हर्षादि को प्राप्त होता है।[1] **नाट्यशास्त्र** के 27वें अध्याय में प्रेक्षक के लक्षणों का निरूपण किया गया है -

जो संतोष का प्रदर्शन देखकर संतोष का अनुभव करे, शोक में शोक का अनुभव, क्रोध में क्रोध का अनुभव और भय का अभिनय देखकर भीत हो जाये उसे श्रेष्ठ प्रेक्षक माना जाता है। इस प्रकार भावों के अनुकरण के अवसर पर जिन-जिन भावों में अनुप्रवेश हो जाय उसे उन-उन गुणों से युक्त प्रेक्षक मानना चाहिए।[2]

उपर्युक्त लक्षण से स्पष्ट होता है कि भरत के प्रेक्षक का स्वरूप सहृदय से भिन्न है। प्रेक्षक का स्वरूप व्यवहारिक, लौकिक ही है, सर्जनात्मक नहीं। भरत के अनुसार- प्रेक्षक को नाट्य प्रत्येक स्थिति में हर्ष या आनन्द देने वाला नहीं होता।

प्रेक्षक शोक के प्रदर्शन में आनन्द (करुण रस) का अनुभव नहीं करता है। भय में वह भयानक रस या क्रोध में रौद्र रस के आनन्द का अनुभव नहीं करता बल्कि उसकी प्रतिक्रिया नाट्य में प्रदर्शित भाव के अनुसार सुख-दु:खात्मक होती है। अत: भरत विवेचित नाट्य के प्रेक्षक द्वारा प्राप्त आस्वाद का स्वरूप, रस ध्वनिवादियों की संविद्विश्रान्ति रूप लोकोत्तर आनन्दमय प्रतीति जैसा नहीं है, अपितु वह सुख दु:खात्मक लौकिक अनुभव रूप है।

अत: प्रेक्षक का स्वरूप अभिनवगुप्त सम्मत सहृदय के स्वरूप से बिल्कुल भिन्न सामान्य दर्शक का है। जो अनुभव के स्तर पर भी लौकिक ही प्रतीत होता है।

---

5. आस्वादयन्ति सुमनस प्रेक्षक: हषादीश्चाधिगच्छन्ति। **नाट्यशास्त्र,** षष्ठ अध्याय

1. यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च।

   क्रुद्ध: क्रोधे भये भीत: स श्रेष्ठ: प्रेक्षक: स्मृत:॥

   एवं भावानुकरणे यो यस्मिन्नप्रवेशन्नर:।

   स तत्र प्रेक्षको ज्ञेयो गुणैरेभिलंकृत:॥ **नाट्यशास्त्र,** 2.54, 61, 62

नागरक -

इस शब्द का प्रयोग वात्स्यायन ने **कामसूत्र** में साहित्य के अधिकारी के लिये ही किया है। उनके अनुसार विदग्धगोष्ठी[1] में नित्य काव्य का आस्वाद ग्रहण करने वाला तथा काव्यचर्चा का प्रवर्तक रसिक ही नागरक है।

नागरक का सम्बन्ध नगर शब्द से है। नगर का निवासी सुख सम्पन्न, गृहस्थ नागरक कहलाता था। यहाँ नागरक की सुख सम्पन्नता से उसकी उद्योगहीनता लक्ष्य नहीं है। अपितु जिसने विद्याध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् निज वर्ण के उचित व्यवसाय के द्वारा धनार्जन करते हुए गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया हो।[2]

नागरक के विषय में कामसूत्र की टीका **जयमंगला** में कहा गया है कि - 'नागरको विदग्धजनः।' जी. टी. देशपाण्डे ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि - ''आज जिसे सुशिक्षित, सुसंस्कृत, सज्जन समझा जाता है, वही पूर्वकालीन नागरक है। चातुवर्ण्य के किसी भी वर्ण के व्यक्ति को सुशिक्षित तथा शिष्ट होने पर उसे नागरक की प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी।''

इस प्रकार नागरक काव्य का एक ऐसा अधिकारी है जो शिक्षित, सुसंस्कृत एवं काव्य का निरन्तर अनुशीलन करता है। नागरक का स्वरूप प्रेक्षक से कुछ भिन्न एवं विशिष्ट है। नागरक के लिये जहाँ वात्स्यायन कुछ निश्चित योग्यताओं का निर्धारण करते हैं, वहीं प्रेक्षक सामान्य जन भी हो सकता है। नागरक के स्वरूप विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि काव्य ग्राहक अधिकारित्व का प्रारम्भ सम्भवतः यहीं से होता है क्योंकि भारतीय चिन्तन में निश्चित योग्यताधारी को अधिकारी कहा जाता है जो सामान्य से विशिष्ट हो। **वेदान्तसार** आदि दार्शनिक ग्रन्थों में अधिकारी के इसी रूप को स्पष्ट किया गया है।

---

1. गृहीतविधः प्रतिग्रह-जय-क्रय विर्वशाधिगतैः अर्थः।

   अन्वयागैरुयैचर्वा-गार्हस्थ्यमधिगम्य नागरकवृत्तं चरेत्॥ **कामसूत्र** 1.4.1

नागरक के लिए आवश्यक शर्तों का निर्धारण दर्शाता है कि किसी भी क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले उसकी पात्रताओं की पूर्ति आवश्यक है। अन्यथा वह क्षेत्र अगम्य एवं अरुचिकर ही होगा। काव्यगोष्ठी में भाग लेने के लिये नागरक के लिए कुछ अपनी योग्यतायें आवश्यक होती हैं। काव्यशास्त्र का पठन इस प्रकार की योग्यता पाने के लिए अत्यन्त साधक होता है। दण्डी ने इसके समर्थन में कहा है कि -

तदरततन्द्रैरनिशंसरस्वती श्रमादुपरस्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।

कुशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमाः विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥

अर्थात् जिन्हें कीर्त्ति की अभिलाषा हो, उन्हें अहोरात्र श्रमपूर्वक काव्य विद्या की उपासना करनी चाहिए। जो इस प्रकार परिश्रम करेंगे वे कवित्वशक्ति कृश रहने पर भी विदग्धगोष्ठी अर्थात् नागरक गोष्ठी में विहार करने में समर्थ रहेंगे।

नागरक के स्वरूप विश्लेषण से साहित्य के अधिकारी की अवधारणा तो विकसित हुई सी प्रतीत होती है किन्तु नागरक की काव्यानुभूति विषयक अवधारणा स्पष्ट नहीं हो पाती है। इसकी जीवन-चर्या से परिलक्षित होता है कि वह केवल काव्य को मनोरंजनपरक ही मानता है। वहाँ अभिनव के सहृदय की भाँति संविद्विश्रान्तिमय आनन्द का परिलक्षण नहीं हो पाता है। किन्तु फिर भी नागरक साहित्य के अधिकारी का एक सोपान है।

विदग्ध -

विदग्ध का स्वरूप भी नागरक के समान ही परिलक्षित होता है। दण्डी ने इसे साहित्य का उत्तम अधिकारी कहा है। दण्डी ने काव्यादर्श में कहा है कि "लोक प्रसिद्धि से बाहर के अर्थ कविकल्पना द्वारा अध्यारोपित होकर प्रयुक्त हों, उससे विदग्ध ही अतिशय संतोष का अनुभव करते हैं।"[1] विदग्ध व्युत्पन्न होते हैं अर्थात् नागरक की

1. लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः।

   योऽर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः॥ **काव्यादर्श** 1.89

तरह काव्यानुशीलन के अभ्यस्त होते हैं। इनमें कवि कल्पना शक्ति का भी समावेश होता है, जिससे ये विवक्षित अर्थ का अध्यारोप कर सकें। उपर्युक्त सम्पूर्ण गुणों से विदग्ध काव्य का अनुभव कर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, जबकि अन्य विदग्धस्वभाव से व्यतिरिक्त अविदग्ध जन अप्रसन्न होते हैं।[1]

काव्यादर्श की टीका **रत्नश्री** में विदग्ध जनों के लिये सहृदय शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] इससे स्पष्ट है कि विदग्ध सहृदय के काफी निकट है। दोनों में अन्तर प्रतिपादकों की अपनी दृष्टि के कारण ही हो सकता है।

सामाजिक -

सामाजिक शब्द का प्रयोग आचार्य लोल्लट, शंकुक एवं यह नायक तीनों ने किया है किन्तु तीनों के सामाजिक के स्वरूप में अन्तर है, जो तीनों की रस व्याख्या पद्धति का प्रभाव है। आचार्य लोल्लट के अनुसार रस की तीन सत्तायें हैं -

1. मूल अनुकार्य पात्र की 2. अभिनेता नट की 3. दर्शक सामाजिक की।[3] किन्तु इन तीनों में से लोल्लट रस की स्थिति अनुकार्य एवं अभिनेता दोनों में ही मानते हैं। **काव्यप्रकाश** के अनुसार लोल्लट का रस अनुकार्यगत होता है। सामाजिक उसके रस की अनुसन्धान के सहारे नटगत रूप में प्रतीति भर करता है -

मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, तद्रूपतानुसन्धान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस:।[4]

सामाजिक नट को उसके अभिनय-कौशल के कारण रामादि के रूप में

---

1. विदग्धा व्युत्पन्ना अतितुष्यन्ति अनुरज्यन्ते। सुतरां तथाविधोक्त्या, अहत बुद्धित्वात्। इतरेऽविदग्धा नातितुष्यन्ति, तादृशामभावितस्वभावत्वात्। **काव्यादर्श,** (रत्नश्री टीका), पृ. 369
2. विदग्धा: सहृदयाभिमानिन:। **काव्यादर्श,** (हृदयङ्गमा टीका), पृ. 369
3. स चोभयोरपि अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात। **अभिनवभारती,** भाग 1, पृ. 232
4. **अभिनवभारती,** भाग 1, पृ. 262

ग्रहण करता है। फल यह होता है कि उसे अनुकार्यगत वास्तविक रस-गत रूप में प्रतीत होने लगता है। अभिनय कला में 'तद्रूपतानुसंधान' का एक विशिष्ट स्थान है। सामाजिक जब नट में रामादिरूपता का अनुसंधान करता है, मूल राम तथा नट का भेद भूल जाता है। बिना इस अभेद भावना के सामाजिक की प्रतीति का आगे बढ़ना कठिन है। लोल्लट सामाजिक में रस की उत्पत्ति नहीं स्वीकार करते हैं। सामाजिक रस की साक्षात् अनुभूति नहीं करता है। लोल्लट के अनुसार तद्रूपतानुसन्धान का प्रयोग सामाजिक भी करता है, वह अभिनेताओं को मूल पात्रों के रूप में ग्रहण कर लेता है, तब उसे मूल पात्रों में वस्तुतः उद्भूत रस नट-गत रूप में प्रतीत होने लगता है।

इस प्रकार लोल्लट का सामाजिक अनुभवकर्त्ता नहीं अपितु प्रतीतिकर्त्ता है। लोल्लट ने सामाजिक के स्वरूप को एवं उसकी रसानुभूति की समस्या को दूर से ही देखा है। किन्तु साहित्यिक अधिकारी के अधिकारित्व का दृष्टिकोण इनके सामाजिक में भी दृष्टिगत होता है। जहाँ उन्होंने सामाजिक के लिए तद्रूपानुसन्धान की योग्यता को आवश्यक माना है।

शंकुक के सामाजिक की भी लगभग यही स्थिति है। शंकुक का सामाजिक लोल्लट के समान अभिनव के सहृदय के समान 'विमलप्रतिभानशाली हृदय' तथा 'संविद्वश्रान्ति' का अभ्यासी तो नहीं है, तथापि उसे लौकिक भावभूमि का पूर्ण परिचय है। अपने-पराये हास-शोक का अनुभव करते-करते उसमें यह योग्यता आ जाती है वह वह विभानुभावों के द्वारा शोकादि का अनुमान कर सकता है।

आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ **काव्यप्रकाश** में शंकुक के सामाजिकगत मत को स्पष्टतः उल्लिखित किया है।[1]

भट्ट नायक ने भी अधिकारी के लिये सामाजिक अभिधान का प्रयोग किया है। भट्ट नायक के सामाजिक की स्थिति पूर्वोक्त सामाजिकों से सुदृढ़ एवं अनुभूतिपरक है। भट्ट नायक सामाजिक एवं भाव की वासनात्मक सत्ता को भी स्वीकार करते हैं। रस

1. काव्यानुसन्धानबलात्.....सामाजिकानां वासनया चर्व्यमानो रस इति शङ्कुक। **काव्यप्रकाश,** चतुर्थोल्लास।

वे वासना की मुक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं न कि अभिव्यक्ति या उत्पत्ति। भट्ट नायक ने सामाजिक के लिए सिद्धिमान्नरः अभिधान का भी प्रयोग किया है। जिसका आचार्य विश्वेश्वर ने सिद्धियुक्त अर्थात् प्राक्तन पुण्यशाली अर्थ किया है।[1]

भावक -

काव्यग्राहक साहित्य के अधिकारी के लिए 'भावक' शब्द प्रयोग कविराज राजशेखर ने किया है। भावक का स्वरूप समालोचक के समान होता है। राजशेखर ने **काव्यमीमांसा** ग्रंथ में दो प्रकार की प्रतिभाओं का उल्लेख किया है - 1. कारयित्री, 2.भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा काव्यनिर्माण की मूल है, जो कविनिष्ठ होती है। जबकि भावयित्री प्रतिभा समालोचना का मूल है। जो भावक या समालोचक में होती है। कालिदास ने काव्य को सुनने का अधिकारी एवं उसके समालोचन का अधिकारी भावक को ही बताया है।

''गुण-दोष का विवेचन करने वाले सज्जन पुरुष इस **रघुवंश** महाकाव्य को सुनें। वे ही गुण-दोष का विवेचन कर सकते हैं, क्योंकि स्वर्ण की शुद्धि अथवा कालिमा का ज्ञान अग्नि में तपाने से होता है।''[2]

राजशेखर ने भावक के चार प्रकार बताये हैं -

1. आरोचकी - जिन्हें किसी की अच्छी रचना भी सन्तुष्ट नहीं करती।

2. सतृणाभ्यवहारी - जो अच्छी या दूषित सभी प्रकार की कविता की प्रशंसा करते हैं।

3. मत्सरी - जो ईर्ष्यालु होते हैं। ये अच्छी से अच्छी रचना में दोष ढूढ़ने का प्रयास करते रहते हैं।

---

1. तद् भोगीकृतरूपेण व्याख्यते सिद्धिमान्नरैः। **हिन्दी अभिनवभारती**, पृ. 467

2. तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्ति हेतवः।

हेम्नः सँल्लक्ष्यते ह्यग्नो विशुद्धि श्यामिकाऽपि वा॥ **रघुवंश** 1.13

4. तत्त्वाभिनिवेशी - ये निष्पक्ष और सच्चे समालोचक होते हैं। तत्त्वाभिनिवेशी के लिये राजशेखर कहते हैं कि - तत्त्वाभिनिवेशी हजारों में कोई एक होता है। वह बड़े पुण्य से किसी-किसी को मिल पाता है। जो रचना के श्रम को समझता है कुछ आलोचक रचना में गुण ढूढंते हैं कुछ केवल दोष में अपने को कृतार्थ मानते हैं। ऐसे आलोचक अत्यन्त दुर्लभ हैं जो गुण-दोष देखकर केवल रसास्वादन करते हैं।[1]

इस प्रकार आचार्य भरत से लेकर आचार्य विश्वनाथ आदि तक साहित्य के अधिकारी की अवधारणा परिवर्तनशील रही है, किन्तु सहृदय की अवधारणा ने इस अवधारणा में आदर्श प्रतिमान स्थापित किये हैं, जो परवर्ती साहित्यशास्त्रियों को प्रायशः स्वीकृत हैं।

---

1. गुणादानः परः कश्चिद् दोषादानपरोऽपरः।

गुणदोषाहतित्यागपरगपरः कश्चन भावकः॥ **काव्यमीमांसा,** चतुर्थ अध्याय

हृदय एवं सहृदय

काव्य चिन्तन के क्षेत्र में सहृदय शब्द का प्रयोग दो स्थितियों में हुआ है- 1. सर्जक के रूप में तथा ग्राहक के रूप में। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का सम्बन्ध मुख्यत: ग्राहक पक्षीय सहृदय से है। सहृदय शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में तो मिलता ही है, किन्तु इसका सर्वप्रथम प्रयोग अथर्ववेद में हुआ है। 'सहृदयं सामनस्यमद्विषं कृणोमि व:'[1] इस पंक्ति में सहृदय का अर्थ समान हृदय है। काव्यास्वाद के सन्दर्भ में नायक कवि तथा श्रोता अनुभव साम्य की दृष्टि से समान हृदय वाले या सहृदय कहे जाते है। नाट्यशास्त्र में के लिए सुमनस् प्रेक्षक का प्रयोग है। भरत, भामह, दण्डी, वामन तथा उद्भट आदि ने सहृदय शब्द के समानार्थक अन्य शब्दों का प्रयोग किया है, जिसकी चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है किन्तु सहृदय का प्रचुर मात्रा में प्रयोग आनन्दवर्द्धन ने **ध्वन्यालोक**[2] में किया है। इस सहृदय शब्द की व्याख्या अभिनवगुप्त)- पादाचार्य ने **लोचन** में विस्तार से की है। अभिनवगुप्त शैव हैं उन्होंने दार्शनिक ग्रन्थों के साथ-साथ साहित्याशास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे। अत: साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उनकी समन्वित शैव दार्शनिक दृष्टि भी देखने को मिलती है। उन्होंने कई साहित्यशास्त्रीय विषयों को प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आलोक में व्याख्यात किया है। सहृदय की अवधारणा भी उनकी इसी शैवी दृष्टि की देन है। वस्तुत: सहृदय शब्द का साक्षात् सम्बन्ध हृदय तत्त्व से है।

हृदय तत्त्व शैव दर्शन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसे चिति शक्ति (आनन्द शक्ति), विमर्श, प्रतिभा, शिवा, स्वातन्त्र्य का प्रतिपादक भी माना गया है। इसमें आनन्द का प्राधान्य है। यह उपचारत: परमशिव का हृदय है।[3]

---

1. **अथर्ववेद**, 3.3.1
2. तैन ब्रूम: सहृदय मन: प्रीतयेतत्स्वरूपं। **ध्वन्यालोक**, 1.1
3. सा स्फुरता महासत्ता देशकालविशेषिणी।

   सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिन:॥ **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, 1.5.14

हृदय तत्त्व का **तन्त्रालोक** एवं अन्य शैव दार्शनिक ग्रन्थों में उल्लेख आया है, जिसका भिन्न-भिन्न आयामों में प्रयोग हुआ है। हृदय तत्त्व तदुभय यामल-स्फुरित भाव विसर्गमय है।[1] तदुभय शब्द जननी और जनक रूप शिव-शक्ति की उभयात्मकता की ओर संकेत करता है। इन दोनों का यामल भाव हृदय है। इसी से सम्पूर्ण जगत् आभासित होता है और इसी में विलय हो जाता है। इसीलिये इसे स्फुतिभाव विसर्गमय कहा गया है।

हृदय को शक्तिसूत्र भी कहा गया है[2] क्योंकि यह सम्पूर्ण सृष्टि काली आदि सम्पूर्ण शक्ति चक्र का आसूत्रण करने वाला है। यह नित्य प्रस्फुरणशील है। चूँकि सम्पूर्ण सृष्टि आदि सबका लय इसी में होता है। परिणामत: आगे कुछ भी नहीं बचता। इसलिये यह अनुत्तर तत्त्व भी कहलाता है। इसीलिये इसे अमृत भी कहते हैं।[3]

'हृदय' को बोध का पर्याय[4] भी कहा गया है। उसमें अर्थात् स्वबोध में स्वात्म का विमर्श (द्रवित) बाहर फैले समग्र संसार को स्वात्मसात् कर लेता है। संसार की उत्पत्ति की आदिम से लेकर संहार तक यह शाश्वत उच्छलित है। किसी विशेष के अभाव के और शान्ति के कारण इसे सामान्य भी कहा गया है। स्पन्दशास्त्र में हृदय को स्पन्द कहा जाता है। स्पन्दन का तात्पर्य है किंचित् चलन अर्थात् उसमें कुछ-न-कुछ उच्छलन स्वाभाविक है। इसे ही विमर्श भी कहा गया है। यही विमर्श चेतन और

---

1. विमलकलाश्रयाभिवसृष्टि महाजननी

   भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनक:

   तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं

   हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम सस्फुरतात्॥ **तन्त्रालोक** 1.1

2. हृदयं शक्तिसूत्रं - **तन्त्रालोक**, प्रथम आह्निक

3. अनुत्तरामृतकुल - **तन्त्रालोक** 4, आह्निक, पृ. 152

5. हृदयं बोधपर्याय - **तन्त्रालोक**, 4 आह्निक, पृ. 152

अचेतन समस्त चराचर जगत् का प्राण है, यही सबका सार रहस्य है।[1]

विषय की प्रतिष्ठा संवित्निष्ठ होती है।[2] इस शक्ति के अनुसार सारा जड़ जगत् उसी संवित् का सार है अन्यथा यह संवेद्य नहीं कहा जा सकता संविद् ही सब में प्रतिष्ठित है। वही हृदय है उसी के अधीन इसकी प्रतिष्ठा है।

इस प्रकार हृदय शैव दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है, जिसकी स्थिति सम्पूर्ण चराचर जगत् में है। उन्मेष और निमेष की स्थिति का आधार भी यही है। अर्थात् सृजनात्मकता एवं ग्राहकता दोनों का कारण यही है। सृजनात्मकता के कारण इसी को प्रतिभा भी कहा जाता है।[3] हृदय ही शिव की आनन्दशक्ति है। सम्पूर्ण जगत् आनन्दशक्ति का ही स्फार विस्तार है।[4] सम्पूर्ण विश्व आनन्दशक्ति से ही सृजित होता है, परन्तु जीव मायाजनित कला, विद्या, राग, काल, नियति नामक पाँच कंचुकों से आवृत्त किये जाने पर सीमित शक्तिमान् होता है। जीव अर्थात् पुरुष को सम्पूर्ण जगत् जो शिव की कला होने से आनन्दमय है, दु:खरूप प्रतीत होता है। अभेद में भेद बुद्धि का उदय हो जाता है परन्तु जगत् के परमानन्दमय परमशिव का ही रूप का ज्ञान हो जाने पर अपरिमित आनन्द की उपलब्धि होती है। चेतना का यह रूप स्फुरता विमर्श, आनन्द भिन्न नामों से अभिहित होता है। यह देश, काल की सीमा से ऊपर है, यह विश्रान्ति रूप होता है। विश्रान्ति परमशिव की विश्वोत्तीर्ण अनुत्तर दशा है। यह स्वात्मतत्त्वमय परमधाम है।

---

1. सारमेतत्समस्तस्य यच्चित्सारे जडं जगत्

   तदधीनप्रतिष्ठात्वात्तत्परं हृदयं महत्॥ **तन्त्रालोक** 4, पृ. 154

2. संवित्निष्ठाहि विषय व्यवस्थितिय:॥ वही, पृ. 154

3. यदुन्मीलनशक्तयैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।

   स्वात्मायतनविश्रान्तां वन्दे तां प्रतिभां पराम्॥ **ध्वन्यालोकलोचन**, प्रथम उद्योत

4. या तत्र सम्यग्विश्रान्ति: सानुत्तरमयी स्थिति:।

   इत्येतद्हृदयाधेकस्वभावेऽपि स्वधामनि॥ **तन्त्रालोक**, भाग 1, 5.52 पृ. 252

तन्त्रालोक में इसे ही हृदय आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है।[1] यही साधक की साधना का विषय है।

'हृदय' शब्द शैव दर्शन में विभिन्न आयामपूर्वक प्रयुक्त हुआ है, हृदय तत्त्व के कई पक्ष इस दर्शन में परिलक्षित होते हैं। वाक्यपदीयकार की एक कारिका इस कथन को पुष्ट करती है कि - 'एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। अनेक शक्तियाँ हो सकती हैं जैसे कि अग्नि में प्रकाश, दाहकता दोनों नियोजित हैं।'

'हृदय' शब्द की भी यही स्थिति है। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** में इसके विभिन्न पर्यायों पर दृष्टिपात् किया गया है। चिति, प्रत्यवमर्श, स्फुरता, विमर्श, स्वरसोदिता, स्पन्द, ऐश्वर्य, आनन्द, स्वातन्त्र्य, हृदय, आदि को परस्पर एक-दूसरे के पर्यायों के रूप में माना गया है।

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक्स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः॥
सा स्फुरता महासत्ता देशकालाविशेर्षिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥

उपरोक्त कारिका में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या -

(क) चितिः - चेतयति इत्यत्र या चितिः चितिक्रिया तस्याः प्रत्यवमर्शः स्वात्मचमत्कारलक्षण आत्मा स्वभावः तथाहि घटेन स्वात्मनि न चमत्क्रियते स्वात्मा न परामृश्यते न स्वात्मनि तेन प्रकाश्यते न अपरिच्छिन्नतया भास्यते ततो न चेत्यत इति उच्यते। चेत्रेण तु स्वात्मनि अहमिति संरम्भोद्योगोल्लासविभूतियोगात् चमत्क्रियते, स्वात्मा परामृश्यते स्वात्मन्येव प्रकाश्यते, इदमिति यः परिच्छेद एतावद्रूपतया तद्विलक्षणीभावेन नील पीत सुख दुःख तच्छून्यताद्यसंख्यावभासयोगेन आभास्यते, ततः चैत्रेण चेत्यते इति उच्यते।

---

1. अनेका शक्तिरेकस्य युगपच्छूयते क्वचित्।
अग्निः प्रकाशदाहाभ्यामेकत्रापि नियुज्यते॥ **वाक्यपदीय** (वाक्यकाण्ड), 2.477

अर्थात् 'चेतयति' इस क्रिया में जो चिति (जानने अर्थ में क्रिया) है उसका परामर्श स्मरणरूप से करना यही इसका अपना चमत्काररूप स्वभाव है, क्योंकि घट अपने आपको प्रकाशित नहीं करता अर्थात् अपरिच्छिन्नरूप में नहीं भासता है। इसी कारण घट स्वयं जानता है - ऐसे कोई नहीं बोलते हैं। चैत्र तो अपने में सर्वदा ज्ञानमय होने के कारण चमत्कृत ही रहता है, एवं अपने में प्रकाशित रहता है और सारे विश्व को अपने में किये रहता है। नील-पीत, सुख-दु:खादि से युक्त रहना एवं कभी न रहता, ये बातें उसमें होती रहती हैं, इसलिये चैत्र जानता है, ऐसा कहा जाता है।[1]

इस प्रकार चिति बोधात्मक है, उसी के द्वारा संसार के सभी प्राणियों को विमर्श होता है। वस्तुत: चिति परमशिव का शक्ति रूप है। जिसे स्वातन्त्र्य भी कहा जाता है। वही विश्व सिद्धि का हेतु है।[2] यही संकुचित विश्वमय शरीर को धारण करने वाला है। **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्** में कहा भी गया है -

जिस प्रकार संसार परमशिव का शरीर है वैसे वही संकुचित चिति-शक्ति रूप जीवात्मा भी संकुचित विश्वमय शरीर को धारण करने वाला है।[3] परमशिवगत चिति सृष्टि, स्थिति, आभासन का हेतु है। यही संकुचित रूप जीवात्मारूप होकर भोग-मोक्ष स्वरूप सिद्धियों की हेतु है। इसी चिति के कारण सुखदु:खात्मक रूप बोध होता है। **तन्त्रालोक** में कहा गया है - विश्व के सारे प्रमाता और सांसारिक प्रमेयों का समूचा प्रवर्ग चिति में ही समाये हुए है। इस प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति रूप जगत् में एक मात्र चिति का ही चमत्कार चल रहा है। इस प्रकार साधकों को उसी चिति के मनन, एवं अनुसन्धान की आवश्यकता है।[4] यही आनन्दमय स्थिति है। इसीलिये यह हृदय के

---

1. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी,** 1.5.13 पृ. 104

2. चिति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतु। - **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्,** 2

3. चितिसङ्कोचात्मा चेतनोऽपि सङ्कुचितविश्वमय:। **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्,** 4

4. यत्र सर्वे लयं यान्ति दह्यन्ते तत्त्वसञ्चया:।

   तो चितिं पश्य कायस्थां कालानलसमप्रभाम्॥ **तन्त्रालोक,** 19.182, भाग 7, पृ. 4.96

पर्याय रूप में जानी जाती है।

(ख) विमर्श -

विमर्शो हि सर्वसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति उभयम् एकीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः।

विमर्श तो सब कुछ सहने वाला होता है, इदन्ता को भी अपना बना लेता है और अपने आप को भी देहादि रूप इदन्ता कर लेता है तथा दोनों को सदाशिव भूमि में एक भी कर लेता है एवं किये हुये को दो भागों में विभक्त कर देता है। एक को जाग्रत अवस्था में बढ़ा देता है एवं दूसरे को शून्य अवस्था में दबा देता है। ऐसा स्वभाव वाला है। अवभास का स्वभाव ही विमर्श है। स्वरूप परामर्श करने वाले ही इसको जानते हैं और तत्त्ववेत्ता लोग विमर्श को अहम्, असांकेतिक, स्वातन्त्र्यरूप, आत्मविश्रान्तिरूप ज्ञाता कहते हैं।[1]

(ग) प्रत्यवमर्श -

प्रत्यवमर्शश्च अन्तर्भिलाषात्मकशब्दनस्वभावः, तच्च शब्दनं स्वभावः संकेत-निरपेक्षमेव अविच्छिन्नचमत्कारात्मकम्, अन्तर्मुखशिरोनिर्देशप्रख्यम् अकारादि मायीयसां-केतिकशब्दजीवितभूतं, नील इदं चैत्रोऽहम् इत्यादि प्रत्यवमर्शान्तरभितिभूतत्वान्।

प्रत्यवमर्श - जो भीतर ही भीतर जानना और उसमें किसी का संकेत भी नहीं रहता, मैं स्वयं इन नीलादिरूप का भोक्ता हूँ, यही चमत्कार रहता है, बिना बोले हुए स्वीकार कर लेने के बराबर अकारादि सांकेतिक शब्दों का जीवन है, यह नील है, मैं चैत्र हूँ। इस प्रकार यह अनुभवगम्य स्थिति का प्रतिपादक है।

---

1. स्वभावमवभासस्य विमर्श विदुरन्यथा।

प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजड़ोपमः॥ **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, 1.5.11

(घ) स्वरसोदिता -

अतएव सा स्वरसेन चिद्रूपतया स्वात्मविश्रान्तिवपुषा उदिता सततम् अनस्तमिता नित्या अहमित्येव, एतदेव परमात्मनो मुख्यं स्वातन्त्र्यम्, ऐश्वर्यं ईशितृत्वम् अनन्यापेक्षितत्त्वम् उच्यते।

परावाणी अपने आपमें स्वात्मविश्रान्तिरूप चिद्रूप से निरन्तर उदित होती रहती है, 'अहं' इस परामर्श रूप में सदैव स्फुरित रहती है। यही परमात्मा का मुख्य स्वातन्त्र्य ऐश्वर्य एवं स्वामीपन है, जिसमें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती यह रस-स्वरूप आनन्द से उदित है तथा परावाक् स्वरूप है।

(ङ) आनन्द, ऐश्वर्य, स्वातन्त्र्य चैतन्य -

किसी की अपेक्षा न रखना यही परमार्थतः आनन्द, ऐश्वर्य और स्वातन्त्र्य है। इसलिये ठीक ही कहा है कि - तेन जड़ात् स हि विलक्षणः क्योंकि वह जड़ से विलक्षण ही है। (अनन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः, ऐश्वर्य, स्वातन्त्र्यं चैतन्यं च।)

(च) स्फुरत्ता -

इह घटः कस्मात् अस्ति खपुष्पं च कस्मात् नास्ति? इति उक्ते वक्तारो भवन्ति घटो हि स्फुरति मम, न तु इतरत इति, तत् एतत् घटत्वमेव यदि स्फुरत्वं स्फुरण-सम्बन्धः।

अर्थात् यहाँ घट रहता है और आकाशकुसुम नहीं रहता है, इस बात को बोलने वाले कहते हैं, क्योंकि घट को मैं प्रत्यक्षरूप से देखता है, आकाशकुसुम तो प्रत्यक्ष स्फुरित नहीं होता है, यदि घटत्व ही स्फुरित होता है तो वह प्रत्येक व्यक्ति को स्फुरित होगा। नहीं होता है, तो किसी को भी नही चाहिए। इसलिये मुझे होता है इसका क्या तात्पर्य है, मेरा ही स्फुरण उसमें लगा हुआ है।

वस्तुतः स्फुरता स्वात्मप्रकाशन शक्ति है। उसमें स्व के प्रकाशन हेतु किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती।

(छ) स्पन्द -

स्पन्दनं च किंचित् चलनम्, एषैव च किञ्चिद्रूपता यत् अचलमपि चलम् आभासते इति, प्रकाश स्वरूपं हि मनागपि नातिरिच्यते अतिरिच्यते इव इति अचलमेव आभासभेदयुक्तमेव च भाति। उक्तम्-

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वतचिद्रपुः।

अनुरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरहक्रियः शिवः॥

तथा

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन्।

धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः॥ [1]

स्पन्दन का अर्थ है कि कुछ चलनात्मक प्रवृत्ति का होना, एवं यही किञ्चित् झलकना है जो स्वयं अचल रहता हुआ भी द्रष्टा के यहाँ स्फुरित होता है, क्योंकि प्रकाशरूप द्रष्टा से वह थोड़ा सा भी अधिक नहीं होता है, स्वतः अपने आप अधिक होने के समान, वह अचल रहता हुआ ही आभास भेद से मिला हुआ ही झलकता है। इसी कारण कहा है -

सभी भावों में विज्ञानरूप शरीरवाला आत्मा ही अपनी इच्छा की वृद्धि को न रोककर दृष्टि क्रिया को फैलाता हुआ विश्वरूप ही रहता है।

अतिक्रोधी अथवा प्रहृष्ट-प्रसन्न रहने वाला या किंकर्त्तव्यविमूढ़ रहने वाला या दौड़ता हुआ जिस अवस्था में स्थित रहता, वही प्रतिष्ठत स्पन्द कहलाता है।

इस प्रकार हृदय तत्त्व के उपर्युक्त पर्याय किसी न किसी रूप में हृदय को ही विभिन्न स्तरों पर परिभाषित करते हैं। इन पर्यायों का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि इनका सम्बन्ध परमशिव की दोनों स्थितियों उन्मेष एवं निमेष से है। सृष्टि का

---

1. **स्पन्दकारिका**, 22

आभासन परमशिव की ईश्वरता है। अत: हृदय ऐश्वर्य है। वह (परमशिव) अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से इसका सम्पादन करते हैं। स्फुरता, चिति, स्पन्द आदि इसी पक्ष को उद्घाटित करते से प्रतीत होते हैं। विमर्श प्रत्यवमर्श, स्वरसोदिता, आनन्द आदि साधकगत प्रतीत होते हैं। ध्यातव्य है कि हृदय की स्थिति समष्टिगत एवं व्यष्टिगत दोनों स्तरों पर होती है। समष्टिगत का उल्लेख किया जा चुका है। व्यष्टिगत मायादि छ: कंचुकों से आवृत्त होती है। उसमें सीमित कर्तृत्व होता है। जीवात्मा जब समस्त मलों एवं कंचुकों से अनावृत्त हो जाता है उस समय सीमित हृदय का विस्तार हो जाता है। वह परमशिवमय हो जाता है। विमर्श आदि रूप हृदय के इसी रूप को व्यक्त करते हैं। जैसाकि विमर्श के लक्षण में कहा जा चुका है कि सभी को सहने की क्षमता है, जिसमें जो, सभी को एकीकृत करता है। यह आत्मविश्रान्तिरूप ज्ञाता की अवस्था है। जहाँ 'अहमस्मि' का बोध होता है। वही यहाँ अभीष्ट है। यह अवस्था सृष्टि के व्युत्क्रम को दर्शाती है, जो निमेष है।

आनन्द का तात्पर्य है हृदय का विस्तार। जब साधक आणवोपायादि से अपने चित्त को शुद्ध कर सम्पूर्ण जगत् आदि को अपने में ही प्रतिबिम्बित समझने लगता है। यह अवस्था अहमस्मि के बोध की अवस्था है। यही परमशिवमयता है। यही हृदय विस्तार है। इसी को शैवदर्शन में आनन्द कहा गया है।[1] इसी अवस्था को अभिनवगुप्त पादाचार्य ने अभिनवभरती में समापत्ति, विश्रान्ति, लय, चमत्कार, भोग इत्यादि शब्दों से अभिहित किया है। यही काव्यशास्त्र में रसना, आस्वाद एवं आह्लाद है।[2]

चमत्कार -

एक निर्विघ्न रूप आत्मानन्द के उपभोग की अवस्था है। चमत्कार शब्द में

1. चैतन्य आत्मा आनन्दमय:। **शिवसूत्र**, 1.1

2. एवं चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते।

-**अभिनवभारती**, अध्याय षष्ठ, पृ. 257

'चमु अदने' धातु से चमत् शब्द की निष्पत्ति होती है। काव्य अथवा गीतादि के रस एवं आत्मानन्द के निर्विघ्न रूप उपभोग (आस्वादन) द्वारा जनित संरम्भ-उत्साह का शिरश्चालनादि संकेतप्रदर्शन को चमत्कार कहते हैं। आत्मानन्द की अनुभूति के पक्ष में यह अन्य से निरपेक्ष स्वात्मा में विश्रान्ति मात्र है और काव्यरस की अनुभूति के पक्ष में 'वृत्यन्तर' के उदयरूप विघ्न से रहित एकमात्र प्रासंगिक रस की चर्वणा या रसानात्मक आस्वाद चमत्कार है।

योग शब्द का इसी अर्थ (आस्वाद) में प्रयोग किया गया है। हृदय को विश्रान्ति का दशा माना गया है। अर्थात् जहाँ संविद् स्थैर्य है, अत: यह चित्त के स्थिर होने की दशा है। यह आत्मानन्द स्वरूप अवस्था है। भोग ऐसी ही अवस्था को सूचित करता है। **तन्त्रालोक** के टीकाकार जयरथ ने सुख दु:ख की सामान्य स्थिति को भोग कहा है।[1] जिसे देह नहीं महास्फुरत्ता ही अनुभव करती है। अर्थात् यह देशकाल विशेष सम्बन्ध रहित स्थिति है। यही परमेष्ठी[3] जिसके विकास से चिदानन्द लाभ होता है।[4] इसका अनुभव साधक जीवन्मुक्ति की दशा में करता है। जिसे अभिनवगुप्त ने **अभिनवभारती** मे समापत्ति[5] समावेश एवं एक रस कहा है। साधक यहाँ पर

---

1. क. चमत: भुञ्जानस्य यत्करणं संरम्भ: संकेतप्रदर्शनं स चमत्कार:। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**

2. ख. स्वात्मनि अनन्यापेक्षे विश्रमणम्। एवं भुञ्जानतारूपं चमत्त्वं, तदेव करोति संरम्भे विमृशनि न अन्यत्र अनुधावति। चमदिति क्रियाविशेषणम्, अखण्ड एव वा शब्दो निर्विघ्नास्वादनवृत्ति:। चमदिति वा आन्तरस्पन्दान्दोलनोदितपरामर्शमयशब्दानाव्यक्तानुकरणम्। काव्यनाट्यरसादावपि भाविचित्तवृत्त्यन्तरोदय-नियमात्मकविघ्नरहित एव आस्वादो रसनात्मा चमत्कार इति उक्तमन्यत्र। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी** 2 क्रियाधिकार, वि. 4

2. भोगस्य सुखदु:खाद्याभाससाधारण्यमनुश्वाना। **तन्त्रालोक,** आह्निक तृतीय पृ. 478

3. सर्वान्तरतमत्वेन वर्तमानत्वात् तद्भित्तिलग्नता विना च कस्यचिदपि स्वस्वरूपानुपत्ते: संविदेव भगवती मध्यम्। **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्** 17 की टीका

4. शैवाद्वैत दर्शन में आनन्द को छ: आनन्द भूमियों में व्याख्यात किया गया है -

परमशिवमय हो जाता है।

क. निजानन्द ख. निरानन्द ग. परानन्द घ. ब्रह्मानन्द ङ. महानन्द च. चिदानन्द।

क. निजानन्द - निजानन्दे प्रमात्रंशमात्रे हृदि पुरास्थितिः। (तन्त्रालोक 5.44) भाग 2, पृ. 247

निजानन्द में अनुभूति प्रमात्रंश मात्र में ही स्थित रहती है। अर्थात् स्वात्म प्रमाता ही साक्षात् उल्लसित रहता है।

ख. निरानन्द - शून्यतामतात्रविान्तेर्निरानन्द विभावयेत् (वही) - प्रमातृगत निजानन्द से निष्क्रान्त होने के कारण निरानन्द की अनुभूति होती है। यह अनुभूति बाहर की ओर प्राणा की उन्मुखता में ही होती है।

ग. परानन्द - परानन्दगतस्थिेदपानशशिशोभिः। (वही 5.45)

परानन्द निष्ठ अवस्था में साधक सूक्ष्म प्रमेयों के उदय की अवस्था में अवस्थित हो जाता है। प्रमाण के अपेक्षा प्रमेय अनन्त होते हैं, उनके भोग रूप ग्रहण के उपरान्त उनके प्रति आकांक्षा समाप्त हो जाती है।

घ. ब्रह्मानन्द - चौथा आनन्द ब्रह्मानन्द है। इस स्थिति में अनन्त-अनन्त प्रतिभासमान प्रमेयों का आपसी मिलाप स्वाभाविक रूप से होने लगता है। यह समग्र मेय की स्वीकृति समान भूमि है। वहाँ आनन्द का उपवृंहण होता है। इसीलिये इसे ब्रह्मानन्द कहते हैं।

ततोऽनन्तस्फुरन्मेयसंघट्टैकान्तनिर्वतः।

समानभूमिमागत्य ब्रह्मानन्दमयो भवेत्॥ (वही 5.46, 47)

ङ. महानन्द - ततोऽपि मानमेयौघकलनाग्रासतत्परः।

उदानवह्नौ विश्रान्तो महानन्दं विभावयेत्। (वही, 5.47-48)

अर्थात् यह उदान वायु के स्तर का आनन्द है। यह पूर्णतः प्रमातृ सम्मत आनन्द है। योगी महानाद में विश्रान्ति हो जाने पर उदान अग्नि की शाश्वत शिखा में एकरस रूप से दीप्तिमन्त हो जाताहै। (तत्र विश्रान्तिमप्येत्य शाम्यत्यस्मिन्महार्चिषि) वही 5.48

च. चिदानन्द - निरुपाधिर्महाव्याप्तिर्व्यानाख्योपाधिवर्जिता।

तदा खलु चिदानन्दो यो जडानुपवृंहितः॥ वही 5.49

चिदानन्द सर्वोत्कृष्ट आनन्द होता है। यह ध्यान रूपी उच्चार भूमि का आनन्द है। महानन्द में विश्रान्ति के बाद एक अनिवर्चनीय शान्ति उल्लसित होती है। वह निरुपाधि होती है। कला से क्षिति पर्यन्त इसकी महाव्याप्ति होती है। व्यापकता के कारण इसे व्यान दशा भी कहा जाता है। यह चिद्रूप आनन्दस्वरूप है। इसलिये इसे चिदानन्द भी कहते हैं। इसमें अचित् जड़ों के लिये कोई जगह नहीं होती है, इसमें प्रमाता परमशिवमय हो जाता है।

5. **अभिनवभारती**, षष्ठ अध्याय

काव्यशास्त्र में सहृदय की अवधारणा इसी हृदय तत्त्व के सन्निधान में विकसित हुई है। आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्यप्रयोजन में मुख्यत: प्रीति या परनिर्वृत्ति की बात कही है, जो तत्त्वत: संविद् विश्रान्ति या पूर्णता परामर्श है। यह काव्य में साधारणीकृत भावभूमि है जो परा संवित् की विश्रान्ति है। यही स्वरूप प्रत्यभिज्ञा अर्थात् मोक्ष है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि में सहृदय का भी अन्तिम लक्ष्य यही है। अभिनवगुप्त ने सहृदय की व्याख्या में जिस दर्शन भूमि का आधार लिया है वह प्रत्यभिज्ञा के हृदय तत्त्व के आसपास ही परिलक्षित होती है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि शैवाद्वैत में सृष्टि के दो क्रम हैं। प्रथम उन्मेष क्रम जिसमें सृष्टि का आभासन सूक्ष्म से स्थूल अर्थात् आरोही क्रम में है। जबकि द्वितीय क्रम में (जिसे निमेष, लय इत्यादि शब्दों से अभिहित किया जाता है) स्थूल से सूक्ष्म क्रम अर्थात् अवरोही क्रम है। यह सब कुछ हृदय तत्त्व के परिणामस्वरूप ही सम्भव है, उसकी स्थिति दोनों स्तरों पर प्रधान है। जहाँ प्रथम क्रम का उल्लेख आता है, तो वह स्वातन्त्र्य, स्पन्द एवं शिवा, प्रतिभा आदि से अभिहित होता है। द्वितीय क्रम में लय, विश्रान्ति, समापत्ति, चमत्कार आदि का प्रयोग होता है। सहृदय का सम्बन्ध इसी द्वितीय क्रम से है। जिसमें सहृदय साधकवत् परनिर्वृत्ति परमशिव रूप कवि हृदय में तन्मय होकर काव्यानुभूति अथवा रसानुभूति प्राप्त करता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने सहृदय शब्द की परिभाषा प्रत्यभिज्ञा सम्मत ही दी है।

1. सहृदय वह होता है, जो कल्पनाशक्ति से सम्पन्न होने के कारण शुद्ध रसानुभव का आनन्द लेने का अधिकारी है।[1]

सहृदय वे हैं जो काव्य एवं शास्त्र के अध्ययन द्वारा अपने हृदय के साथ संवाद की शुद्ध सामर्थ्य प्राप्त कर चुके हैं और इस प्रकार जिनमें प्रस्तुत के साथ अपना

---

1. अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदय:। **अभिनवभारती**, पृ. 470

तादात्म्य स्थापित करने का गुण हो।[1]

इन परिभाषाओं में प्रमुखतः इन गुणों का उल्लेख है -

1. सहृदय का हृदय ऐसा निर्मल होना चाहिए कि जो मंच पर प्रदर्शित नाट्यदर्पण जैसी निर्मलता से प्रतिबिम्बित कर सके।

2. नाट्यवस्तु के साथ एकाकार की क्षमता हो।

3. उसे कवि के मन से उस भाव का अनुभाव करना चाहिए जो नाटक अथवा काव्य के माध्यम से सम्प्रेषित किया जा रहा है। इन सभी गुणों को **तन्त्रालोक** में विशदता से स्पष्ट किया गया है।

निर्मलत्व के लिये वे कहते हैं -

नैर्मल्यं चातिनिबिडसजातीयैकसंगतिः

स्वस्मिन्नभेदात् भिन्नस्य दर्शक्षमतैव या।

अव्यक्तस्वप्रकाशस्य नैर्मल्यं तद् गुरुदितान्॥[2]

अर्थात् निर्मलता किसी पदार्थ के सजातीय तत्त्वों में घनिष्ठ सामीप्य है। जैसे दर्पण रूप परिमाणुओं से मिलकर बना है। ये परमाणु एक-दूसरे के अत्यन्त सामीप्य में है, किन्तु जब दर्पणतल धूलिकणों से ढँक जाता है, तो यह चेहरे को स्पष्टतया प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता, क्योंकि रूप-परमाणुओं का घनिष्ठ सामीप्य उनके बीच आने वाले धूलिकणों द्वारा बाधित होता है, अतः दर्पण निर्मल नहीं है। जब हम धूलि हटा देते हैं, तो रूप-परमाणुओं का घनिष्ठ सामीप्य फिर से लौट आता है और कहा जा सकता है कि दर्पण निर्मल है। हमारे हृदय के विषय में भी यही स्थिति है। जब दर्शक

---

1. येषाम् काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। **ध्वन्यालोकलोचन**, पृ. 40

2. **तन्त्रालोक** (विवेक टीका) 1.7.8

(सहृदय) अभिनीत नाटक को देखते हैं अथवा काव्य को पढ़ते हैं तो उनके मन प्रस्तुत भाव से परिपूर्ण होना चाहिए। प्रस्तुत विषय-वस्तु से सम्बद्ध किसी अन्य भाव अथवा भावों के उदय से उनका मन व्याकुल नहीं होना चाहिए।

दूसरा गुण तन्मय हो जाने की सामर्थ्य है यह तभी सम्भव तब हृदय की आवश्यक निर्मलता सहृदय हो इसलिये दर्शक के हृदय की शुद्धता के अनुसार ही प्रदर्शित स्थिति उसके हृदय में प्रतिबिम्बित होती है। (आस्ते हृदयनैर्मल्यातिशये-तारतम्यत:) प्रदर्शित वस्तु के दो अंश होते हैं - चेतन और अचेतन। अचेतन अंश को दर्शक उसी प्रकार ग्रहण करता है, जैसे अनेक सूक्ष्मताओं वाले किसी चित्र के एकत्व को ग्रहण किया जाता है। किन्तु चेतन अंश का ग्रहण दर्शक द्वारा अभिनीत भाव से तादात्म्य किये बिना नहीं होता।[1] इसे ही तन्मयीभवन कहते हैं, जिसकी व्याख्या अभिनवगुप्त इस प्रकार करते हैं -

हम एक घट का प्रत्यक्ष करते हैं। घट हमारी चक्षुरिन्द्रिय पर प्रतिफलित होकर हमारे मानस पटल पर उपस्थित होता है। मन: पटल व्याप्ति चेतना का ही एक प्रसृत रूप है, विमर्श का ही एक स्फुरित या स्पन्दित स्वरूप है। इस प्रकार बाह्य घट हमारी प्रकाश-विमर्शमयी सत्ता का ही एक अंग बन जाता है। विषय की यह आत्मकारा परिणति ही तन्मयीभवन है। तथा च घटो मम स्फुरतीति कोऽर्थ:? मदीयं स्फुरणं स्पन्दमाविष्टमद्रूपतामपन्न एव, चिन्मयत्वात्।[2] भास्करकण्ठ अभिनवगुप्त के इस मत को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं -

''बाह्य पदार्थों का जो स्वरूप प्रमाता की चेतना के समक्ष आता है, वह मूलत: शुद्ध प्रकाश से भिन्न नहीं है तथापि माया द्वारा पृथक् रूप से भासित होता है।

---

1. जडेन य: समावेश: स प्रतिच्छन्दकाकृति:।

   चैतन्येन समावेशस्तादात्म्यं नापरं किल॥ **अभिनवगुप्त**, पृ. 71

2. प्रेम स्वरूप गुप्त, **रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन,** पृ. 201-202

पदार्थों की यह आत्मरूपता की प्राप्ति ही तन्मयीभाव[1] है।'' इस प्रकार अभिनवगुप्त के तन्मयीभाव का अर्थ है 'प्रमेय की आत्मकारा परिणति।' भाव के साथ इस तादात्म्य के परिणामस्वरूप हृदय संवाद होता है। संवाद का अर्थ है 'दो सदृश वस्तुओं में सामरस्य काव्य में इस स्थिति के माध्यम से कवि के भाव और पाठक या दर्शक के बीच की स्थिति से सामरस्य की स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें चमत्कार या आनन्द मिलता है। इसे आत्म परामर्श या पूर्णता परामर्श भी कहते हैं।'

एक अन्य गुण जो सहृदय में होता है, वह प्रतिभानशालिहृदय अर्थात् सहृदय के पास कलात्मक कल्पना के साक्षात्कार करने हेतु प्रतिभा भी आवश्यक है।

प्रतिभा के द्वारा प्रमाता सहृदय अर्थ का सृजन करता है अर्थात् वर्णनीय को समझता हुआ उससे तादात्म्य स्थापित कर रसानुभूतिमय विश्रान्ति को प्राप्त करता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शैवाद्वैत दर्शन में प्रमाता पहले अर्थ का सृजन करता है। उसमें अनुरत होता हुआ विश्रान्ति रूप स्थिति प्राप्त करता है। फिर यह विषय मुझे ात हो गया इस संतोष का विमर्श करता हुआ उसका उपसंहार कर चिदग्नि प्रकाश को आत्मसात् करता है।[2] प्रतिभा सहृदय प्रमाता की आध्यात्मिक शक्ति है, जिसके आश्रय से सहृदय व्यक्ति सर्वोच्च प्रकाश में स्थित हो जाता है। तन्त्रालोक में कहा भी गया है कि -

प्रतिभा व्यक्ति को वैयक्तिकता के धरातल से उठाकर सद्विद्या की दशा तक पहुँचा देती है। इस दशा में वह शक्ति तत्त्व के रूप में जाना जाता है, यदि मनुष्य

---

1. ग्रहणसमये भावस्थ मायया भावत्वेन भासितं निज सहज शुद्धप्रकाशाख्यं स्वरूपमेव प्रभातारं प्रति स्फुटी भवति यतः, तदा प्रमाता, तद्वस्तु प्रति दिदृक्षा समये व्यापकी भवति.....व्यापकीभवंश्च तद्वस्तु स्वात्मसात्करोति तन्मयोभावासादनं च वस्तुनः शुद्धप्रकाशस्वरूपत्वासादानमेव प्रमातुः शुद्ध प्रकाशमात्र-रूपत्वात्। वही पृ. 230

2. प्रमाता हि प्रथममवभास्यमानतया अर्थं सृजति, तदनु तत्रैव प्रशान्तनिमेषं कंचित्कालमनुरज्यन् परिस्थापयति, पश्चात् ज्ञातोऽयं मयार्थं इति संतोषाभिमानात् स्वात्मनि विमृशन्नुपसंहरति अनन्तरं चिदग्निसद्भावमादयति। **तन्त्रालोक,** 5.28 की वृत्ति भाग 2, पृ. 240

सद्विद्या के धरातल से नीचे नहीं उतरता तो वह परमशिव हो जाता है।[1]

इसी प्रतिभा के कारण सहृदय में सहृदयता का भाव जागृत होता है। **परात्रिंशिका** में अभिनवगुप्त ने रूढ़ि शक्ति से 'सहृदयता' का अर्थ किया है - 'शुक्रक्षोभात्मा हि सहृदयता'[2] अर्थात् शुक्र-क्षोभ अर्थात् काम अर्थात् आनन्द या सौन्दर्य यह क्षोभ शुक्र की सक्रिय स्थिति है, जिसको अभिनव 'सस्पन्द' कहते हैं। यह सक्रिय होती हुई भी संयत होती है। शुक्र की यह 'संयत सक्रियता' वस्तुतः रचनात्मक स्थिति है। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी** के अनुसार सहृदयता अभिनव-आनन्दमय चित् का परामर्श है। यह परामर्श (विमर्श हृदय) चित्तवृत्ति की भूमि पर होता है, उस समय वेद्य विश्रान्त (फलतः व्यवस्थित) प्रकाश भाग गौण रहता है।[3] अतः सहृदयता भी स्वात्मविश्रान्ति रूप हृदय की बोधात्मक अवस्था है। उपर्युक्त विश्लेषण से सहृदय की सारतः निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं -

1. एक विशेष काव्यग्राही क्षमता/प्रतिभा से काव्योपम भावों का भण्डार

2. शुद्ध भाव-भूमि में आत्म-परामर्श की सामर्थ्य

3. प्रतिभा की विमलता, जिससे वह विभावादि का मानस साक्षात्कार कर लेता है।

4. काव्य के निरन्तर अनुशीलन का अत्यन्त अभ्यास

5. साधारणीकृत विभावादि (वर्णनीय) में तन्मयीभाव की योग्यता

---

1. स एव प्रतिभायुक्तः शक्तितत्त्वं निगद्यते।
   तत्पातावेशतो मुक्तः शिव एव भवार्णवात्॥ **तन्त्रालोक** 13.118
2. उद्धृत, **साधारणीकरण और सौन्दर्यानुभूति के प्रमुख सिद्धान्त,** पृष्ठ 262
3. हृदयेन परामर्शलक्षणेन प्राधान्यात् व्यपदेश्या व्यवस्थितस्यापि प्रकाशभागस्य वेद्यविश्रान्तास्यानादरणात् सहृदयता उच्यते। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी,** भाग 2, पृ. 177-179

6. कवि हृदय से तादात्म्य-स्थापना की शक्ति।

इस प्रकार रसास्वादन का अधिकारी लौकिक साधारण पुरुषों से विलक्षण होता है। काव्य के निरन्तर परिशीलन से जिनमें कवि वर्णित भावों में तन्मयीभवन की योग्यता आ चुकी है, वे ही सहृदय कहलाते हैं और वे भी रसास्वादन के अधिकारी हैं। तन्मयीभाव हृदय का धर्म हैं न कि बुद्धि का। इसीलिए बुद्धि की प्रधानता वाले ब्रह्मज्ञान को रसास्वादन से भिन्न ही बतलाया है। हृदय प्राधान्य के कारण ही रसास्वादन के अधिकारी सामाजिक को अन्य पुरुषों से विलक्षण 'सहृदय' की संज्ञा प्रदान की गई है।

सहृदय - हृदय साक्षात्कार (तादात्म्य) अथवा रसानुभूति -

रसानुभव की परिणति मनुष्य के आत्मानुसंधान अर्थात् मुक्ति में हैं। अर्थात् रसानुभूति साधना पद्धति के समान अज्ञानावरण से मुक्त अहमात्मक बोध है। जिसमें सम्पूर्ण विघ्नों का नाश एवं आनन्दानुभूति ही होती है। रसानुभूति संविद्विश्रान्ति की अवस्था है, जो श्रम, कर्म, देश, काल व्यतिरिक्त है। जो शिव और शक्ति की सामरस्यावस्था है। यह रस प्रतीति निर्विकल्पक है। यहाँ सम्पूर्ण विकल्पों का नाश हो जाता है, जहाँ काल, देश, रूप आकार आदि का ज्ञान नहीं होता।

भरत सूत्रस्थ संयोग पद का व्यंग्य व्यंजक भाव सम्बन्ध तथा निष्पत्ति पद अभिव्यक्ति अर्थ है। आस्वादन द्वारा रसरूपता को प्राप्त होने वाला रतित्वरूप साधारणरूप से उपस्थापित सकल हृदय संवाद सिद्ध रत्यादि व्यंग्य हैं और साधारणीकृत अत एव देशकाल व्यक्तिविशेष सम्बन्ध रहित विभावादि व्यंजक हैं।

उपर्युक्त व्याख्या पूर्णत: प्रत्यभिामतानुसारिणी परिलक्षित होती है, अर्थात् जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार आत्मा (जीव) यद्यपि आनन्दरूप है, इसलिये महेश्वर से अभिन्न है तथापि उसका वह स्वरूप माया के कारण अज्ञान से तिरोहित रहता

है और विद्या के द्वारा उसके उस महेश्वर स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। **ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** में कहा भी गया है कि -

एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः।

विद्यादिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते॥

मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते।

महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदकः॥[1]

अभिनवगुप्त पादाचार्य के रस सिद्धान्त की भी यही स्थिति है। उनके मत में सहृदयों के हृदय में संस्कार रूप में स्थायिभाव विद्यमान हैं, किन्तु वे अनुद्बुद्ध व व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित हैं। देश काल व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से रहित अतएव साधारणीकरणकृत विभावों की चर्वणा सहृदयों के द्वारा होती है न कि देशकाल व्यक्तिविशेष सम्बन्ध युक्तों की। अतः साधारणीकृत विभावादि से जब अभिव्यक्ति होती है तब अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् देशकाल व्यक्तिविशेष सम्बन्ध रहित साधारणीकृत रूप में ही होती है। इसी अभिप्राय से इसे अभिव्यक्तिवाद कहा जाता है।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन में जो भूमिका आणवोपायादि की है वही अभिनव सम्मत रसानुभूति में विभावादि उपायों की है। आणवोपायादि से व्यक्ति प्रमाता समस्त कंचुकों से अकंचुकित होकर अज्ञानावरण को हटाता है। उसका संकुचित हृदय विस्तृत हो जाता है। वह व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त होकर सामान्य हो जाता है। उसका बोध व्यापक हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि उपायों से भी नियुत कंचुक विगलित हो जाते हैं और सहृदय प्रमाता देशकाल व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्ध से मुक्त हो जाता है। सभी का साधारणीकरण हो जाता है। स्वत्व विस्मृति स्वत्व विस्तार है यही साधारणीकरण है। साधारणीकरण की अवस्था में सभी सहृदयों को वस्तु की एक जैसी

---

1. **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, 3.2.2, 3

प्रतीति होती है। अर्थात् वस्तु की प्रतीति साधारणीकृत रूप में होती है। अभिनवगुप्त इस सिद्धान्त को **तन्त्रालोक** में और स्पष्ट करते हैं -

तथाह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु।

नृत्तं गीतं सुधासारसागस्वेन मन्यते॥

तत एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षोपदेशने।

सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम्॥[1]

अर्थात् नाटकों और रूपकों के दर्शक अभिनेयता के चरम उत्कर्ष के समय ऐसी एकाग्रता की अनुभूति से भर जाते हैं कि उन्हें स्व-पर भेदवादिता की विस्मृति हो जाती है। उनके चिति के आवरण भग्न हो जाते हैं। अभिनेताओं से जैसे सामाजिकों का तादात्म्य सा हो जाता है। परिणामत: सारा सामाजिक वर्ग उस समय सम्पन्न हो रहे नृत्त और गीतों के स्वास्थ्य में इतना तल्लीन हो जाता है कि रस सुधा के सारभूत द्रव से सरोवार सागर सानन्द लहराने लगता है।[2]

प्रेक्षागृह रस समुद्र बन जाता है। सामाजिक वर्ग रसिकता के चरमोत्कर्ष में खो जाता है। वहाँ सम्पन्न अभिनय नृत्त और गीत जो बहुवेद्य थे, उनमें एक आतिशय्य का उद्रेक हो जाता है। उस आनन्द बोध को दर्शक स्वात्मानुभवैकगोचर चरम-चमत्कार-सार रूप से परामर्श करने लगता है। एक-एक प्रेक्षक से संवेद्य नृत्त, गीत और अभिनयादि में एक सर्वसंचेत्य चमत्कारातिशय का ही उल्लास हो जाता है। रसानुभूव के उन क्षणों में प्रमातृभेद नहीं रहता वरन् प्रमात्रैक्य घटित हो जाता है।[3] इस प्रकार एक सभी सहृदयों को एक जैसी प्रतीति होती है। सभी एकीभाव हो जाते हैं, यह सर्व

---

1. **तन्त्रालोक**, चतुर्थ भाग 10.85, 86
2. **तन्त्रालोक**, 10.85 की विवेक टीका
3. **तन्त्रालोक**, 10.85 की वृत्ति, भाग 4, पृ. 75

प्रमातृतादाम्यदशा है।[1]

जब सब लोगों को एक साथ एक ही रूप में नाट्य आदि में देखे गये विभावादि का बोध होता है तब वे आदि किसी विशिष्ट व्यक्ति से सम्बद्ध नहीं रह जाते। उनका बोध एक रूप होता है क्योंकि उनके देखने से एक ही सर्वात्मक चैतन्य सबके भीतर प्रतिम्बित होता है। इस प्रकार उस सर्वात्मक चैतन्य में जो तन्मयीभाव है, वह सबका होता है और उससे होने वाला आनन्द भी किसी एक का न होकर सबका होता है। परिणामतः वह आनन्दनिर्भर चैतन्य प्रत्येक प्रमाता के भीतर एक को प्राप्त होकर नृत्य आदि के विषय में पूर्णानन्द के रूप में प्रकट होता है।

संवित् सर्वात्मिका देहभेदाद् या सकुंचेद् तु सा।
मेलकेऽन्योन्यसंघट्टप्रतिबिम्बवाद् विकस्वरा॥
उच्चलन्निजरश्म्यौघः संवित्सु प्रतिबिम्बितः।
बहुदर्पणवद्दीप्तः सर्वादेतादप्ययत्नतः॥
अत एव नृत्तगीतप्रभृतौ बहुपर्षदि।
यः सर्वतन्मयीभावे ह्यदो न त्वेककस्य सः॥
आनन्दनिर्भरसंवित् प्रत्येकं सा तथैकताम्।
नृत्तादौ विषये प्राप्ता पूर्णानन्दत्वमश्नुते॥
ईर्याशयादि संकोचकारणाभावतोऽत्र या।
विकस्वरा निष्प्रतिघं संविदानन्दयोगिनी।
अतन्मये तु कश्मिंश्चित् तत्रस्थे प्रतिहन्यते॥[3]

इस प्रकार साधारणीकरण देशकाल व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्ध का परिहार है।

---

1. वही, 10.86 की वृत्ति, भाग 4, पृ. 76

2. **तन्त्रालोक**, 27.373

अभिनवभारती में भी यही स्पष्ट किया गया है। ये विभावादि मेरे ही हैं, शत्रु के ही हैं, तटस्थ व्यक्ति के ही हैं, इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष के स्वीकार नियम तथा ये मेरे ही नहीं हैं, ये शत्रु के नहीं हैं, ये तटस्थ के नहीं हैं, इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष के परिहार के नियम की निवृत्ति ही साधारणीकरण है।[1]

उपर्युक्त साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं होता अपितु स्थायी भाव का भी होता है, ये स्थायीभाव सहृदय चित्त में वासना रूप में स्थित उसका अपना भाव होता है। यह साधारणीकरण एक सामूहिक व्यापार है, जिसका आधार आत्म चैतन्य की अद्वैतता है। इसकी सार्थकता यही है कि उसके माध्यम से सामाजिक के परिमित प्रमातृ भाव का विगलन हो जाता है और तब रसरूप शिव तत्त्व से अपनी अभेदप्रायता का अनुभव कर सकता है। यही शिव शक्ति का मिलन है। इसे ही स्वात्मबोध या आत्मप्रत्यभिज्ञा कहते हैं, जिसमें सहृदय को परिमित प्रमातृभाव से मुक्त अपनी मूलभूत विराटता का बोध होता है। अभिनवगुप्त रसानुभूति की दशा में इसे सकलविघ्न-विनिर्मुक्ति कहते हैं। इसीलिये **अभिनवभारती** में रसविघ्न एवं उनके निराकरण की चर्चा करते हैं। ये (रसविघ्न) सहृदय को लौकिक भाव भूमि की चेतना से बाँधे रखते हैं तथा कला माध्यम तथा कलावस्तु को स्वपर तटस्थ सम्बन्धों से कंचुकित रखते हैं। इनकी संख्या सात है।[2]

1. सम्भावना विरह
2. स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेश
3. निजसुखादिविवशीभाव

---

1. **काव्यप्रकाश,** चतुर्थ उल्लास
2. विघ्नाश्चास्यां प्रतिपत्तौ अयोग्यता संभावना विरहो नाम, स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकाल विशेषावेश, निजसुखादिविवशीभाव प्रतीत्युपायवैकल्यम्, स्फुटत्वाभाव, अप्रधानता संशययोगश्च। **अभिनवभारती,** पृ. 280

4. प्रतीत्युपायविकलता

5. स्फुत्वाभाव

6. अप्रधानता

7. संशययोग।

1. संभावना विरह -

संवेद्य विषय को असम्भव समझने वाला व्यक्ति उस विषय में अपनी प्रतीति को विनिविष्ट नहीं कर सकता वहाँ विश्रान्ति की सम्भावना नहीं हो सकती इसलिये संभावना-विरह रसानुभूतिमय विश्रान्ति में प्रथम विघ्न है।

इसके निराकरण हेतु वस्तु की लोकसाधारणता आवश्यकता है, जिससे उसमें रसास्वादयिता का हृदय संवाद हो सके। समुद्रलंघन आदि अलौकिक व्यापारों का सम्बन्ध ऐसे इतिहास प्रसिद्ध लोकोत्तर सामर्थ्ययुक्त पुरुषों से माना जाता है। जिनमें ऐसे कार्य करने की प्रसिद्धि और सामर्थ्य की भावना हमारे हृदय में चिरकालिक संस्कार के रूप में विद्यमान है। इसीलिये नाटकादि इतिहास प्रसिद्ध कथावस्तु एवं प्रख्यात नायक को आधार बनाया जाता है।[1] यह सम्भावना विरह दोष का परिहार है।

2. स्वगतपरगत्वनियमेन देशकालविशेषावेश -

सामाजिक के निजी सुख-दु:ख के आस्वादन करने पर चित्त की विश्रान्ति असंभव है क्योंकि आत्मगत सुखानुभव में वह सुख के नाश को भय से उसकी रक्षा की व्यग्रता से तथा तत्समान सुखार्जन की इच्छा से तो दु:ख की स्थिति में वह उसे छोड़ने,

---

1. तथा हि संवेद्यसंभावयमान: संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र विश्रान्ति इति प्रथमोविघ्न:। तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तु विषय:। अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेषु अखण्डितप्रसिद्धिजनित गाढ़ारूढ़ प्रत्ययप्रसरकारी प्रख्यातारामादिनाममधेयपरिग्रह। अत एव निस्सामान्योत्कर्षोपदेश व्युत्पत्ति प्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तु विषयत्वादि नियमेन निरुपयिष्यते। वही पृ. 280

उसको प्रकट करने की या छिपाने की इच्छा से चित्त को विश्रान्त नहीं कर पाता।[1] अत: सामाजिक सहृदय में उत्पन्न विभिन्न भावात्मक दशायें रसानुभूति में विघ्न पैदा करती हैं।

इसी प्रकार परगत सुख-दु:ख के आस्वादन में भी स्वभावत: सुख-दु:ख आदि अन्य ज्ञानों के उदय से चित्त की विश्रान्ति नहीं होगी।[2]

इन दोषों के परिहार हेतु अभिनवगुप्त पादाचार्य ने विभावादि के साधारणीकरण की व्यवस्था रखी है। इसके द्वारा सामाजिक देशकालविशेष सम्बन्ध एवं व्यक्तिविशेष सम्बन्ध से मुक्त हो जाता है।[3]

3. निजसुखादिविवशीभाव -

अपने सुखादि में निमग्नता भी रसप्रतीति में विघ्न है। निजसुखादि में डूबा हुआ सहृदय काव्यार्थ रत्यादि में तन्मय नहीं हो सकता जो कि रसास्वादन के लिए आवश्यक है।

इसके निराकरण हेतु नाट्य में नृत्य, गीत, वाद्य, मण्डलपसज्जा, विदग्ध गणिकाओं के नृत्य तथा विभिन्न प्रकार के अभिनय की व्यवस्था की गई है। इसके द्वारा विभावादि का साधारणीकरण होता है और उनमें सकलजन योग्यता आ जाती है। रसास्वादन के लिए हृदय संवाद रूप सहृदयता की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इन नृत्यादि के विधान से अहृदय मनुष्य का भी चित्त निर्मल हो जाता है और उसमें

---

1. स्वैकतानां च सुखदु:खसंविदामास्वादे यथासंभव तदपगमभीरूतया वा तत्परिरक्षाव्याग्रतया वा तत्सदृशार्जि-जीजीषया वा तज्जिहासया वा तत्प्रचिख्यापयिषया वा तद्गोपनेच्छया व प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमोविघ्न:। वही, पृ. 259
2. परगतत्वनियमभाजामपि सुखदु:खानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदु:खमोहमध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमन-संभवादवश्यंभावीविघ्न:। वही, पृ. 259
3. तदपाकरणे कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्रपूर्वरङ्गविधिं प्रति इत्यादिना पूर्वरङ्गानिगूहेन नटी विदूषको वाऽपि इति लक्षितप्रस्तवनावलोकनेन च यो नटरूपताधिगमस्तत्पुरस्सर: प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपाय: अलौकिकभावादि भेदलास्याङ्गरङ्गपीठमण्डलगतकक्ष्यादिपरिग्रहनाट्यधर्मिसहित: ..... स एष सर्वो मुनिना साधरणीभषसिद्धया रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकरबन्ध: समाश्रित:। तत: स एष परिनियतताविघ्नाप-सरणप्रकारो व्याख्यात: वही, पृ. 259-260

सहृदयता आ जाती है।[1]

4. प्रतीत्युपाय विकलता -

प्रतीति अर्थात् रसप्रतीति के उपाय की विकलता भी रसानुभूति में विघ्न है क्योंकि यदि प्रतीति के साधन विभावादि उपाय नहीं होंगे तो प्रतीति कैसे होगी।[1]

5. स्फुत्वाभाव -

अस्पष्ट या परोक्ष प्रतीति के जनक शब्द एक अनुमान के होने पर भी साक्षात्कारात्मक स्फुट प्रतीति रूप प्रत्यक्ष की आकांक्षा होने के कारण उनसे उत्पन्न प्रतीति की विश्रान्ति नहीं होती। अर्थात् विभावादि से अतिरिक्त शब्द तथा अनुमान प्रमाण आदि के द्वारा रत्यादि प्रतीति मानी भी जाय तो वह अस्फुट होगी। यह प्रत्यक्ष के समान स्फुट प्रतीति नहीं होगी। अतः रसास्वादन के लिए रत्यादि की प्रत्यक्ष रूप स्फुट प्रतीति अपेक्षित है। साक्षात् प्रतीति होने पर उसमें अनुमानादि के द्वारा अन्यथाभावज्ञान की सम्भावना नहीं होती।

उपर्युक्त विघ्नों के अपसरण हेतु नाट्य में लोकधर्मी, वृत्ति तथा प्रवृत्तियों युक्त अभिनयों का विधान किया गया है क्योंकि अभिनय शब्द तथा अनुमान प्रमाण से भिन्न प्रकार का प्रत्यक्ष व्यापार है।[3]

---

1. निजसुखादिविवशीभूतश्च कथनं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दविषयमयैरातोद्यगान विचित्रमण्डपदविदग्धगणिकादिभिरूप-रञ्जनं समाश्रितम्। येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्य प्राप्त्या सहृदयीक्रियते। अभिनवभारती, पृ. 28
2. किञ्च प्रतीत्युपायनाभावे कथं प्रतीतिभावः। **अभिनवभारती,** पृ. 28
3. अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिङ्गसंभवेऽपि न प्रतीति विश्राम्यति। स्फुटप्रतीतिरूप प्रत्यक्षोचित प्रत्ययसा-कांक्षात्वात्। यथाहुः सर्वाचेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरां (न्यायसूत्र भाष्य 1-3) इति। स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरपि अनन्यथाभावस्य स्वसंवेदनात्।

   अलात् चक्रादौ साक्षात्कारान्तरेणैव बलवता तदवधीरणात् इति लौकिकस्तावरयं क्रमः। तस्मात् तदुभयविघ्नविघाते अभिनया लोकधर्मीवृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृताः समाभिषिच्यंते। अभिनयनं हि शब्दलिङ्गव्यापारविसदृशमेव प्रत्यक्षव्यापार कल्पमिति निश्चेष्यामः॥ **अभिनवभारती,** पृ. 281

6. अप्रधानता -

आस्वाद्यमान वस्तु की अप्रधानता भी रसविघ्न है। उसके अप्रधान होने से चित्त की विश्रान्ति असम्भव है। इसी कारण रसानुभूति में अप्रधानता भी विघ्न है। रसानुभूति में यह अप्रधानता अचेतन विभाव, अनुमान एवं व्यभिचारि भावों के कारण होती है। इसलिये रसानुभूति में स्थायीभाव की प्रधानता ही आवश्यक होती है। अत: जिन वस्तुओं में अप्रधानता है उनकी चर्वणा रस नहीं कहलाती है, अत: विभावादि की अपेक्षा प्रधान स्थायिभाव का ही प्रधान रूप से वर्णन आवश्यक है। विभावादि का नहीं।[1]

7. संशययोग -

स्थायिभावों के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों का पृथक्-पृथक् रहने या प्रयोग का कोई नियम नहीं है क्योंकि करुण रस के अनुभव अश्रुपात आदि हैं, किन्तु अश्रु अक्षिरोग के कारण भी निकलते हैं। इसी कारण व्याघ्र आदि रौद्र रस के स्थायी भाव क्रोध भायनक के भय के भी हेतु देखे जाते हैं। यहाँ व्याघ्रादि से रौद्र व भयानक रस की उत्पत्ति में संशय हो सकता है। श्रम चिन्ता आदि व्यभिचारि भाव उत्साह तथा भय आदि स्थायिभावों के साथ भी देखे जाते हैं, जिससे रसोत्पत्ति में संशय की पूरी सम्भावना रहती है।

इसलिये संशय नामक विघ्न के निराकरण के लिए भरतमुनि द्वारा संयोग शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि पृथक्-पृथक् संशयकारक हो सकते हैं किन्तु उनका एक साथ संयोजन सन्देहात्मक नहीं हो सकता। उदाहरणस्वरूप बन्धु विनाश की स्थिति में विलाप, रोदन आदि अनुभाव तथा चिन्ता दैन्य आदि के व्यभिचारि भाव रूप में रहने पर निश्चितत: इनके परस्पर संयोग

---

1. अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति। तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरे प्रत्युधावत: स्वात्मन्त्रविश्रान्तत्वात्। अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्मुखसेप्रेक्षिणि संभवतीति तदतिस्कि: स्थाय्येन तथा चर्वणापात्रम्। **अभिनवभारती**, पृ.262

से शोक ही होगा, क्रोध या भय नहीं।[1]

उपर्युक्त सात विघ्न जो सहृदय की चेतना को बाँधे रखते हैं, उसको देशकाल आदि में परिसीमित रखते हैं। अभिनवगुप्त के साधारणीकरण के अन्तर्गत समाप्त हो जाते हैं। सहृदय पूर्णत: शुद्ध हो जाता है, अर्थात् उसकी 'संवित्' (चेतना) विश्रान्त हो जाती है। सभी विषय सामग्री चमत्कार एवं निर्विशेषता से परिपूर्ण हो जाती है और मात्र स्थायी की ही चर्व्यमणता रहती है। सहृदय की चेतना देश, काल एवं व्यक्ति की विशेषता से मुक्त हो जाती है। इन सभी कारणों से रसानुभूति को 'वीतविघ्न' प्रतीति भी जाता है। यहाँ सहृदय-हृदय का भी भेद समाप्त हो जाता है।

अभिनवभारती में वीतविघ्नप्रतीति में होने वाली विश्रान्ति को चमत्कारपूर्ण बताया गया है। त्रिक दर्शन के अनुसार सहृदय के हृदय में जो संस्कार रूप में अनादिवासना स्थित है वही वासना रूप स्थायीभाव संविद्विश्रान्ति दशा में रस रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। यह संविद्विश्रान्ति 'आनन्द' का मूल है।

जिस प्रकार शिव एवं शक्ति की अद्वैतावस्था चित् एवं आनन्द रूप है, शुद्ध विमर्श है तथा देश काल की बाधा से 'स्वतंत्र' है, उसी प्रकार रसानुभव में सहृदय की संविद्विश्रान्ति की दशा होती है, जहाँ देशकालविमुक्त स्वतंत्रता का चमत्कार है।

अभिनवगुप्त के अनुसार परमशिवतत्त्व का विश्वात्मक रूप प्रकाश विमर्शमय है। यह रूप शिवशक्तिमय है। चिन्मयावस्था है, सामरस्य है। प्रकाश चित् तथा विमर्श आनन्द है। जिस प्रकार शक्ति शिव का पक्ष है, उसी प्रकार आनन्द भी चित् का एक

---

1. तत्रानुभावानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक् स्थायिनि नियमो भान्ति वाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात्, व्याघ्रदेश्च क्रोधभयादि हेतुत्वात् श्रमचिन्तादेरुत्साहभयाद्यनेकसहचरत्वविलोकनात् एव संशयोदये शङ्कात्मकविघ्नशमनाय संयोग उपान्त:। सामग्री तु न व्यभिचारिणी तथा हि - बन्धुविनाशो यत्र विभाव: परिदेवताश्रुपदिस्त्वनुभव: चिन्तादैन्यादि व्यभिचारी सोऽवश्यं शाक एवेति। **अभिनवभारती**, पृ. 265

पक्ष है। प्रकाश रूप चित् शक्ति का विमर्श स्वतंत्र है। अत: विमर्श आनन्द शक्ति है। विमर्श रूप शिवतत्त्व में विश्रान्ति ही आनन्द है। यह पूर्ण है। रसानुभव की प्रतीति को इसीलिये आनन्द रूप तथा पूर्ण माना गया है क्योंकि परमशिव का चित्शक्तिमय जीव या हृदय भी यही है।. इसके भी परमशिव की तरह दो रूप विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वात्मक होते हैं। जिसमें कवि का स्वरूप विश्वोत्तीर्ण है। उसमें हृदय की स्थिति काव्य सृष्टि की सर्जना करती है, जबकि दूसरी ओर सहृदय में हृदय की स्थिति उसी कवि हृदय से उसी कवि हृदय से तादात्म्य स्थापित करने के लिये प्रयासरत रहती है। हृदय तत्त्व की स्थिति दोनो में समान है। अन्तर केवल इतना है कि सहृदय में हृदय की स्थिति संकुचित होती है, जो विभावादि उपायों के माध्यम से विस्तृत होकर कवि हृदय रूप परमानन्द का स्वरूप धारण कर लेती है।

उपसंहार

साहित्य में अधिकारी की अवधारणा की अन्य शास्त्रों की अपेक्षा भिन्न प्रतीति होती है। अधिकारी आदर्श काव्यग्राहकता का प्रतिनिधित्व करता है। इसी को सहृदय शब्द से अभिहित किया गया है। हालाँकि साहित्यशास्त्र में इसके प्रेक्षकादि अन्य अभिधान हैं, किन्तु सहृदय काव्यग्राहकता का एक नया आयाम है। जो साहित्यिक अनुभूति को ब्रह्मास्वाद सहोदर व आनन्द के रूप में उपस्थापित करता है। साहित्य को दर्शन के रूप में स्थापित करता है।

अधिकारी की अवधारणा वस्तुत: दर्शनशास्त्र में परिलक्षित होती है। वैसे भारतीय वाङ्मय में किसी भी शास्त्र को पढ़ने व समझने हेतु निश्चित योग्यतायें आवश्यक रूप से निर्धारित की गई हैं। जो शास्त्रानुसार भिन्न-भिन रूप में निश्चित हैं। जैसे कि **वेदान्तसार** में सदानन्द ने अधिकारी के अधिकारित्व को निश्चित किया है।

''अधिकारी जो वस्तुत: जिज्ञासु प्रमाता है, जिसने वेद-वेदाङ्गों का विधिपूर्वक अध्ययन करके सम्पूर्ण वेदार्थ को सम्यक्तया जान लिया है, इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में, कामनाओं को पूर्ण करने वाले काम्यकर्म तथा शास्त्रों द्वारा निषेध किये गये कर्मों को छोड़ने के साथ-साथ, नित्य नैमित्तिक और उपासनाकर्मों के अनुष्ठान से, सम्पूर्ण पापों से मुक्त अत्यधिक निर्मल अन्त:करण वाला होकर साधन-चतुष्टय को अपना लिया है।''[1]

इसी प्रकार साहित्य में अधिकारी रूप में सहृदय की स्थिति मानी जा सकती है। किन्तु साहित्य में अन्य अधिकारियों की भाँति निश्चित अवधारणा अधिकारी की नहीं है। प्रेक्षक, नागरक, विदग्ध, सामाजिक आदि भिन्न-भिन्न अभिधान एवं उनके

---

1. अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुर: सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मल-स्वान्त: साधनचतुष्टयसम्पन्न: प्रमाता:। **वेदान्तसार**, पृ. 24

भिन्न-भिन स्वरूप विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि इसका कारण रस स्वरूप की व्याख्या का भेद एवं विभिन्न दार्शनिक भूमियों का आधार है।

द्वितीय कारण दार्शनिक स्वभाव के कारण ही लोल्लट, शंकुक एवं नायक सामाजिक की अनुभूति को उत्पत्ति, अनुमिति एवं मुक्ति कहकर पुकारते हैं, इन तीनों में दार्शनिक स्वभाव के कारण प्रमुखत: इस बात पर बल दिया गया है कि रस अनुभूति कैसे होती है। किन्तु यह बात अस्पष्ट है कि कौन इसका अनुभव करता, कहाँ रस की स्थिति है। इसी कारण सहृदय से पूर्व अधिकारी की अवधारणा की स्थिति संदेहास्पद प्रतीत होती है, किन्तु आनन्दवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त ने काव्य ग्राहक की अवधारणा में एक नये युग की शुरुआत की है।

अभिनवगुप्त ने काव्यग्राहक को केन्द्र में रखकर रस सिद्धान्त का विश्लेषण किया है। जहाँ से रस के आस्वाद मूलक स्वरूप का आरम्भ होता है। परवर्ती आचार्यों के लिये रस की आस्वाद्यरूपता एवं आस्वादरूपता वाद-विवाद का प्रमुख विषय रहा है।

अभिनवगुप्त ने काव्यग्राहक को न केवल रस के केन्द्र में रखा है अपितु उसे अधिकारी कहकर पुकारा है। जिसे उन्होंने सहृदय भी कहा है। साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में अभिनव की व्याख्या दृष्टि चूँकि विषयि पर रही है। अभिनव की व्याख्या दृष्टि से परिलक्षित होता है कि रस चिद्विशिष्ट आनन्द है अर्थात् चेतना के विस्तार को वे रस अथवा काव्यानन्द कहकर पुकारते हैं। रस आनन्द कोई साधारण चित्तवृत्ति अथवा लौकिक पदार्थ नहीं है अपितु साक्षात् आनन्दस्वरूप सहृदय का आत्मा ही रस है। इसी कारण अभिनव शोकादि की स्थिति में रसानन्द को स्वीकार करते हैं। शोकादि तभी रस रूप हो सकता है, जब साक्षात् आत्मा को ही रस माना जाय।

अभिनवगुप्त ने रसानुभूति को संवित् विश्रान्ति आदि से भी अभिहित किया है। उनकी सम्पूर्ण दृष्टि सहृदय मूलक परिलक्षित होती है। सहृदय एवं रस दोनों के

विवेचन में अभिनवगुप्त द्वारा कई शब्द प्रतिभान, विश्रान्ति, समापत्ति, तन्मयीभाव, विमर्श, आह्लाद आदि प्रयोग किया गया है। जिनसे उपर्युक्त दोनों विषयों को समझने में सरलता का अनुभव होता है। रस को अभिव्यक्त दशा कहने व स्थायी भाव को वासना रूप में हृदय में स्थित रहने आदि का प्रयोग अभिनव ने रस सिद्धान्त में किया है।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि सभी रस व्याख्याओं के पास एक दार्शनिक आधार है, जिसके आलोक में उनके द्वारा व्याख्या की गई है, अभिनव भी मूलत: शैव दार्शनिक हैं। रस एवं सहृदय आदि में स्वाभाविक रूप से उनकी अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि रही होगी और वैसे भी साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में उनके द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक पदों से यह निष्कर्ष प्रकाशित हो जाता है। अभिनवगुप्त की सहृदय केन्द्रित व्याख्या दृष्टि भी इसी शैव दर्शन का परिणाम है। क्योंकि शैव दर्शन भी प्रमाता परक दृष्टि से अपने दर्शन की संरचना को देखता है। वहाँ परम तत्त्व को परमप्रमाता कहा गया है, जो मायादि छ: कंचुकों से अनावृत्त विस्तीर्णचैतन्यस्वरूप अथवा विस्तीर्ण हृदय स्वरूप है। यह प्रमाता सकल प्रमाता से शिवप्रमाता पर्यन्त तक सर्वोत्कृष्ट रूप है। शैव दर्शन में सात प्रकार के प्रमाताओं का उल्लेख किया गया है, जिनमें सकल प्रमाता सामान्यत: सभी होते हैं, प्रमाता सभी को इसलिये कहा जाता है क्योंकि सभी उसी परम प्रमाता परमशिव के ही आभास हैं। सभी में वही विद्यमान हे, अन्तर केवल इतना है कि सकल प्रमाता मायादि छ: कंचुकों से आवृत्त, परिसीमित होते हैं और जैसे ही वे अनावृत्त होते हैं परप्रमाता परमशिवता को प्राप्त कर लेते हैं। सहृदय की भी यही स्थिति है।

अभिनवगुप्त व्याख्यात अधिकारी का स्वरूप परवर्ती सभी काव्यशास्त्रियों को मान्य रहा, इस प्रकार अधिकारी ही नहीं अपितु अन्य साहित्यिक सिद्धान्तों पर विचार करने की आवश्यकता है।

वर्तमान में साहित्यिक अनुभूति के मानदण्ड बदले हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य

दोनों ही परिप्रेक्ष्य में इसका स्वरूप बदला है। वर्तमान में साहित्यिक अनुभूति का तात्पर्य अर्थानुगत से है। किसी भी रचना का किसी भी कृति का अर्थ एक से अधिक हो सकता है। यह पाठक की योग्यता, पाठक के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। पाश्चात्य सौन्दर्य दर्शन में कृति का अपना कोई अर्थ नहीं होता ऐसी मान्यता है।

परिणामत: कृति पाठकाश्रित अर्थ पर निर्भर रहती है। पाठकाश्रित अर्थ से कृति में विविध अर्थ सृष्टि की सम्भावना रहती है। वर्तमान पाठक द्वारा अर्थ सृजन भी एक प्रकार की साहित्यिक अनुभूति है। तो क्या अभिनवगुप्त व्याख्यात सहृदय की स्थिति भी अब परवर्तित हो चुकी है। या फिर वह सनातन शाश्वत आदर्श स्थिति के रूप में प्रतिष्ठित रहेगी। यह एक विचारणीय प्रश्न है।

वैसे एक बात अवश्य कही जा सकती है कि सामाजिक अधिकारी एक दार्शनिक आधारभूमि का ही परिणाम है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में साहित्य को साहित्यदर्शन के रूप प्रतिष्ठापित किया गया है। अधिकारी का स्वरूप उसकी व्याख्या, हृदय तत्त्व के साथ सहृदय का अन्त:सम्बन्ध सब कुछ साहित्य दर्शन की दिशा में बढ़ते कदम माने जा सकते हैं। अत: साहित्य को भारतीय दार्शनिक शृंखला में स्थापित किया जा सकता है।

सहृदय 'हृदय' तत्त्व से पूर्ण होता है। अर्थात् सहृदयों में आवश्यकतया हृदय की समान स्थिति का होना सहृदय पद को स्पष्ट करता है, क्योंकि सभी का आधारस्रोत हृदय तत्त्व है। सभी में उसी का आनन्दांश विद्यमान है। मायादि षड्कंचुकों से कंचुकित होने से वह परिसीमित हो जाता है। किन्तु जैसे ही आणवोपायादि मायादि कंचुकों का तिरोभाव होता है, हृदय की स्थिति विस्तीर्ण हो जाती है। सहृदय सम्पूर्ण आनन्दमय हो जाता है। जिसे परमशिवमयता भी कहा गया है। काव्यशास्त्र में अभिनवगुप्त प्रणीत सहृदय की परिभाषा में 'विशदीभूत' का भी यही तात्पर्य है। सहृदय विभावादि उपायों से साधारणीकृत अवस्था को प्राप्त करता है, जो हृदय विस्तार ही है। जिसके परिणामस्वरूप व आनन्दीभूत हो जाता है। उसका कवि हृदय से तादात्म्य हो जाता है, यही हृदय एवं सहृदय का अन्त:सम्बन्ध है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

अभिनवगुप्त — **ध्वन्यालोकलोचन,** व्या. जगन्नाथ पाठक, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती, प्रकाशन, 1998

---------- **तन्त्रसार** (नीर क्षीर विवेक-हिन्दी व्याख्या सहित) व्या. परमहंस मिश्र, वाराणसी चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 1996

---------- **परत्रिंशिका,** व्या. आचार्य श्रीकृष्णानन्दसागर, बंस फाटक, 1987

---------- **परमार्थसार** (योगराज की निवृत्ति टीका सहित) अनु. कमला द्विवेदी दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, 1994

---------- **तन्त्रालोक** (विवेक टीका) प्रथम व द्वितीय भाग, भा. व. सं. परमहंस मिश्र हंस, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 2000

---------- **तन्त्रालोक** (विवेक टीका) तृतीय भाग, भा. व. सं. परमहंस मिश्र हंस, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1996

---------- **तन्त्रालोक** (विवेक टीका) चतुर्थ भाग, भा. व. सं. परमहंस मिश्र हंस, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1996

---------- **तन्त्रालोक** (विवेक टीका) पंचम भाग, भा. व. सं. परमहंस मिश्र हंस, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1998

---------- **तन्त्रालोक** (विवेक टीका) षष्ठ भाग, भा. व. सं. परमहंस मिश्र हंस, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1998

---------- **तन्त्रालोक** (विवेक टीका) सप्तम व अष्टम भाग, भा. व. सं. परमहंस मिश्र हंस, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1999

---------- **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** (भास्करी टीका) सं. के. एम. सुब्रह्मण्य-अय्ययर, के.सी. पाण्डेय, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1998

---------- **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी** सं. के.सी. पाण्डेय, दिल्ली, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 1991

---------- **हिन्दी अभिनवभारती,** सं. नगेन्द्र, व्या. आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1973

---------- **ध्वन्यालोकलोचन,** व्या. रामसागर त्रिपाठी, नई दिल्ली, मोतीलाल व बनारसीदास

---------- **श्री श्री परात्रिंशिका,** व्या. नीलकण्ठ गुरुटू, दिल्ली, मोतीलाल व बनारसीदास, 1985

---------- **ध्वन्यालोक** (लोचन सहित), व्या. आचार्य जगन्नाथ पाठक, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 1997

अवस्थी, देवीशंकर **साहित्य विधाओं की प्रकृति**, नयी दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 1993

आनन्दवर्द्धन **ध्वन्यालोक**, व्या. आचार्य विश्वेश्वर, वाराणसी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, 1998

आद्यनाथ **अनुत्तर प्रकाश पञ्चाशिका,** श्रीनगर, अरोमा पब्लिशिंग हाऊस, 1991

ईश्वरकृष्ण **सांख्यकारिका,** सं. रामकृष्ण अचार्य, मेरठ, साहित्य भण्डार, 1991

उपाध्याय, बलदेव **संस्कृत आलोचना,** लखनऊ, उत्तरप्रदेश, हिन्दी संस्थान, 1991

भारतीय दर्शन, वाराणसी, शारदा मंदिर, 1997

चतुर्वेदी, सीतारा **कालिदास ग्रन्थावली,** लखनऊ, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, 1997

कल्लट **स्पन्दकारिका,** व्या. श्यामाकान्त द्विवेदी, वाराणसी, 2004

श्रीमच्चक्रपाणिनाथ **भावोपहार** : सं. मुकुन्द शास्त्री, श्रीनगर, अरोमा पब्लिशिंग हाऊस, 1991

कोल, जानकीनाथ **शिवसूत्रविमर्श,** दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, 1998

गुप्त, प्रेमस्वरूप **रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन,** अलीगढ़, भारत प्रकाशन, 1962

गुप्त, गणपतिचन्द्र **भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त,** इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 2005

जेतली, रमाशङ्कर **शृंगार रस : भावना और विश्लेषण** (भरत से पण्डित जगन्नाथ तक) जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1972

जगन्नाथ **रसगङ्गाधर :** (प्रथमो भाग) सं. मधुसूदन शास्त्री, वाराणसी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, 1963

झा, रामेश्वर **पूर्णता प्रत्यभिज्ञा,** दरभंगा, श्री कामेश्वर झा, नित्यानन्द संस्कृत विद्यालय, (दिनांक रहित)

टण्डन, प्रेमप्रकाश **साधारणीकरण और सौन्दर्यानुभूति के प्रमुख सिद्धान्त,** इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 1983

दण्डी **काव्यादर्श,** सं. योगेश्वरदत्त शर्मा, दिल्ली, नाग प्रकाशन, 1999

देशपाण्डे, गणेशत्र्यम्बक **भारतीय साहित्यशास्त्र,** दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, 1958

अभिनवगुप्त, साहित्य अकादमी प्रकाशन, 1995

द्विवेदी, रेवाप्रसाद **आनन्दवर्द्धन,** भोपाल, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1972

द्विवेदी, राम अवध **साहित्य सिद्धान्त,** पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1983

द्विवेदी, विजयशङ्कर **सांख्य एवं काश्मीर शैवदर्शन में सृष्टि,** सं. कृष्णकान्त शर्मा, वाराणसी, प्रशान्त प्रकाशन, 1997

दीक्षित, आनन्दप्रकाश **रस-सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण,** दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1972

भट्ट, नारायण **स्तवचिन्तामणि,** सं. व व्या. रामशंकर सिंह, दिल्ली, पेनमैन पब्लिशर्स, 2001

भरत **नाट्यशास्त्र** (अभिनवभारती टीका, चार भाग) सं. पारसनाथ द्विवेदी, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द द्विवेदी विश्वविद्यालय

(भाग-1, 1992) (भाग-2 1996) (भाग-3, 2001) (भाग-4, 2005)

भारतीय वाङ्मय का बृहद् इतिहास, अष्टम खण्ड, प्रधान सं. उपाध्याय बलदेव, सं. आचार्य करुणापति त्रिपाठी, लखनऊ, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, 2001

मम्मट **काव्य प्रकाश** (ज्योतिष्मती व्याख्या) व्या. रामसागर त्रिपाठी, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास

---------- **काव्यप्रकाश**, व्या. श्रीनिवास शास्त्री, मेरठ, साहित्य भण्डार, 1998

---------- **काव्यप्रकाश** (प्रदीप), सं. ज्योत्सना मोहन, नई दिल्ली, नाग प्रकाशन, 1995

महिम भट्ट **व्यक्ति विवेक**, व्या. रेवाप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 1998

माधवाचार्य **सर्वदर्शनसंग्रह,** व्या. उमाशंकर शर्मा ऋषि, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, 2004

माहेश्वरी, चिन्मयी **रस-गङ्गाधर** (एक समीक्षात्मक अध्ययन), जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1974

मिश्र, भागीरथ **काव्यरस** (चिन्तन और आस्वाद), वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1990

मिश्र, रङ्गेश्वरनाथ **प्रत्यभिज्ञाप्रदीप,** नई दिल्ली, नाग पब्लिशर्स, 1998

मिश्र, विद्यानिवास **सहृदय,** दिल्ली, साहित्य अकादमी, 1994

मेघ, रमेश कुन्तल **मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौन्दर्यबोध**, दिल्ली, राधाकृष्णन प्रकाशन, 1969

राजानक आनन्द **षटत्रिंशत्तत्वसन्दोह,** सं. मुकुन्दराम शास्त्री, श्रीनगर, अरोमा पब्लिशिंग हाऊस, 1991

राजानक, कुन्तक **वक्रोक्तिजीवितम्,** व्या. आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1995

---------- **वक्रोक्तिजीवित,** व्या. राधेश्याम मिश्र, वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 2001 (पाँचवा एडीशन)

वसुगुप्त **स्पन्दकारिका,** सं. सर्वदर्शनचार्य श्रीकृष्णानन्द सागर, गुजरात, केड़ा, श्री माधवानन्द आश्रम, 1984

वामनदत्त — **संवित्प्रकाश**, सं. भागीरथप्रसाद त्रिपाठी वागीश शास्त्री, वाराणसी, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1993

विश्वनाथ — **साहित्यदर्पण**, व्या. शालिग्राम शास्त्री, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, 1997

शर्मा, राममूर्ति — **भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा**, दिल्ली, मणिद्वीप वी. एस. 5, 1999

शास्त्री, विजयपाल — **त्रिकदर्शन का समीक्षात्मक तत्त्वमीमांसीय अध्ययन**, नई दिल्ली, क्लासिक पब्लिशिंग कम्पनी, 1997

शिवाङ्क, कल्याण — गोरखपुर, गीताप्रेस, 2002

सक्सेना, श्रीकृष्ण — **भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप**, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, 1999

सदानन्द — **वेदान्तसार**, व्या. आचार्य बदरीनाथ शुक्ल, वाराणसी, मोतीलाल बनारसीदास, 1979

स्वामी सुरजनदास — **रस सिद्धान्त की शास्त्रीय समीक्षा**, जयपुर, हंसा प्रकाशन, 2000

हीरा, राजवंश सहाय — **भारतीय आलोचनाशास्त्र**, पटना, बिहार ग्रन्थ अकादमी, 2003

क्षेमराज — **पराप्रवेशिका**, नई दिल्ली, अरोमा पब्लिशिंग हाऊस, 1991

---------- — **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्**, व्या. सं. डॉ. शिवशङ्कर अवस्थी, वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 1999

त्रिपाठी, राममूर्ति — **आगम के आलोक में भारतीय काव्यशास्त्र**, संस्कृत प्रगत अध्ययन केन्द्र, पुणे, पुणे विद्यापीठ, 2001

त्रिपाठी, रामसागर — **ध्वन्यालोकलोचन**, नई दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, 1973

त्रिपाठी, राममूर्ति — **भारतीय काव्यविमर्श**, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2001

अंग्रेजी-ग्रन्थ -

Chatterji, J.C. **Kashmir Shavaism,** Delhi, Parimal Publication, 1987.

Chakravarti, Chintaharan **Tantras : Studies on their Religion and Literature,** Calcutta, Punthi Pustak, 1963.

---------- **Aesthetic Experience According to Abhinavgupta,** Varanasi, Chowkhamba Sanskrit Series, 1968.

Kane, P.V. **Histry of Sanskrit Poetics,** Delhi, Motilal Banarasidas, 1966.

Manson, J.L. **Abhinavgupta's Philosophy of Aesthetics,** Poona, Bhandarkar Oriental Research Institute, 1969.

Mishra, Vidyaniwas **"Concept of Sahrdaya" East, West Popetics at Work,** Delhi, Sahitya Akadami, 1994.

Pandey, K.C. **Abhinavagupta An Historical and Philisophical Study,** Varanasi, Chaukhambha, 1963.

---------- **Comparative Aesthetics,** Varanasi Chaukhamba Sanskrit Series.

Pathak, V.S. **History of Saiva Cults in Northern India,** Varanasi, B21/18, Kamachchha, 1960.

Ranade, R.D. **A Constructive Survey of Indian Philosophy,** Bombay, Bharatiya Vidya Bhawan, 1968.

Rudrappa, J. **Kashmir Shaivism,** Mysoore University of Mysoore, 1969.

Jawaharlal Nehru University Library